विश्व इतिहास

(अतिरिक्त अध्ययन सामग्री)

-मणिकांत सिंह

खंड- VI

समकालीन विश्व : एक विहंगम दृष्टिकोण

(Contemporary World : A Cursory Look)

प्रिय अभ्यर्थियों,

अध्ययन सामग्री का यह 'खंड-VI' आपके पाठ्यक्रम का भाग नहीं है, बल्कि उसकी परिधि से बाहर है। फिर भी आपकी संपूर्ण तैयारी का यह महत्वपूर्ण हिस्सा है। स्मरणीय है कि प्रथम खंड, जिसमें प्राचीन विश्व, मध्यकालीन विश्व के साथ-साथ आधुनिक यूरोप के उद्‌भव का अंश लिया गया है तथा छठा खंड जो 1970 के दशक से लेकर वर्तमान युग तक के विकास को दर्शाता है, अतीत को समकालीन विश्व से जोड़ता है। यह एन.सी.एफ. 2005 के निर्देश, जिनके आधार पर एन.सी.ई.आर.टी पुस्तक लिखी गई है, के अनुकूल है। इसमें कहा गया है कि हम आस-पास के परिवेश एवं जीवन को देखें तथा उनके अतीत को जानने का प्रयास करें कि हम कैसे क्रमिक रूप में विकसित एवं परिवर्तित होते हुए वर्तमान युग तक पहुँच सके हैं।

उपर्युक्त तथ्य के अतिरिक्त अतीत से लेकर वर्तमान तक का समग्र ज्ञान अभ्यर्थियों में एक आलोचनात्मक सोच (Critical Thinking) विकसित करेगा। फिर चाहे प्रश्न कितना भी जटिल (Complex), आनुमानिक (Inferencial) प्रकृति का हो, उनका उत्तर आसानी से दिया जा सकता है।

साथ ही इस खंड के अध्ययन का एक सबल पक्ष यह है कि यह सामान्य अध्ययन के अन्य खंडों के लिए प्रवेश द्वार (Gateway) का काम करता है। स्मरण रहे कि अभ्यर्थी केवल एक या दो प्रश्न के लिए विश्व इतिहास का अध्ययन नहीं कर रहे हैं, अपितु इसके माध्यम से संविधानवाद, अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को भी समझने का प्रयास कर रहे हैं।

खंड-VI के अध्ययन के क्रम में आप निम्नलिखित तथ्यों को जानिए:-

- तेल संकट ने 'पूँजीवादी आर्थिक मॉडल' में किस प्रकार का परिवर्तन ला दिया?
- तेल संकट ने 'तृतीय विश्व' की अर्थव्यवस्था को किस प्रकार की दिशा दी?
- तेल संकट ने 'समाजवादी आर्थिक मॉडल' के स्वरूप में किस प्रकार का बदलाव लाया?
- तेल संकट ने अरब देशों के प्रति अमेरिकी नीति को किस प्रकार की दिशा दे दी?
- किन कारकों ने सोवियत रूस के विघटन एवं समाजवादी आर्थिक मॉडल के पतन को निर्धारित किया?
- शीतयुद्ध की समाप्ति ने अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर क्या प्रभाव डाला?
- आर्थिक उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण के बीच क्या संबंध है? किन कारकों ने इन्हें प्रेरित किया?
- सबप्राइम ऋण संकट एवं यूरोजोन संकट ने पूँजीवादी आर्थिक मॉडल अथवा आर्थिक उदारीकरण को किस प्रकार से धक्का पहुँचाया?
- क्या नव-उदारवादी आर्थिक नीति नव-उपनिवेशवाद (Neo-Colonialism) का एक रूप है?
- क्या भूमंडलीकरण का अंत हो गया है?
- क्या पूँजीवादी आर्थिक मॉडल जीवित रह सकेगा?

-मणिकांत सिंह

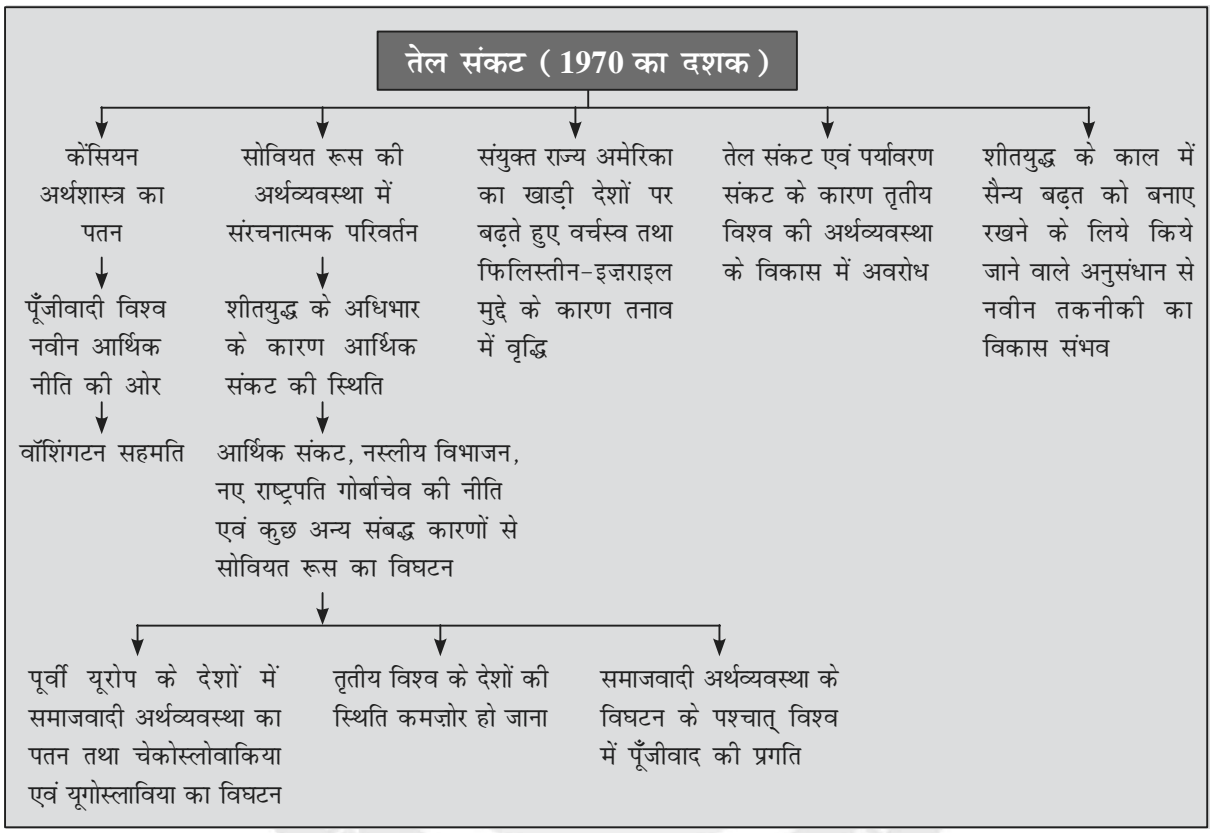

1970 के दशक में परिवर्तन के प्रमुख कारक

1970 के दशक में दो मुद्दे ऐसे उभरकर आए, जो आगे विश्व इतिहास की धारा को एक नई दिशा देने वाले थे। पहला मुद्दा था पर्यावरणीय संकट तथा दूसरा था तेल संकट। जहाँ तक पर्यावरण के मुद्दे का सवाल है, स्मरणीय है कि इस काल में पर्यावरण संरक्षण की बस चेतना भर विकसित हुई थी। अभी इस मुद्दे ने अधिक तूल नहीं पकड़ा था। आगे जाकर इस मुद्दे ने तूल पकड़ा, परंतु तेल संकट का मुद्दा आरंभ से ही एक ज्वलंत मुद्दे के रूप में उपस्थित हुआ तथा इसने विश्व व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव डाला।

तेल संकट से क्या तात्पर्य है?

जैसा कि पीछे हमने देखा कि पश्चिमी कंपनियों ने पश्चिम एशिया एवं अरब क्षेत्र के पेट्रोलियम भंडार पर कब्ज़ा जमा रखा था तथा वे मनमाने ढंग से उसका दोहन कर रही थीं। इस दौरान पेट्रोलियम उत्पादक देशों में धीरे-धीरे जागृति आ रही थी। 1960 में उनके द्वारा ओपेक (OPEC - Organisation of Petrolium Exporting Countries) का गठन किया जा चुका था। उधर फिलिस्तीन-इज़राइल के मुद्दे पर पश्चिमी देशों का जो रुख रहा था उससे अरब देश नाराज़ हुए, विशेषकर तब जब अमेरिकी हथियारों की सहायता से 1973 के युद्ध में, जिसे 'योम किप्पूर' (Yom Kippur) के युद्ध के नाम से जाना जाता है, इज़राइल ने अरब देशों को पराजित कर दिया। अत: 1973 में अरब-इज़राइल संघर्ष के मुद्दे पर पश्चिमी शक्तियों की भूमिका से नाराज़ होकर अरब देशों ने तेल को हथियार के रूप में प्रयोग करने का निर्णय लिया। अरब देशों के द्वारा पेट्रोलियम की बिक्री पर रोक लगा दी गई। फिर जब मार्च, 1974 में रोक हटी, तो पेट्रोलियम के मूल्य में चार गुना वृद्धि कर दी गई। आगे 1979 में ईरानी क्रांति के कारण जो व्यवधान आया, उसके कारण पेट्रोलियम की कीमत में व्यापक वृद्धि हुई। इन दोनों घटनाओं को तेल संकट के नाम से जाना गया। इस तेल संकट ने विश्व-अर्थव्यवस्था एवं विश्व-राजनीति को एक नयी दिशा दी।

पर्यावरण संकट का मुद्दा क्या था तथा इसके विरुद्ध विभिन्न देशों की क्या प्रतिक्रिया रही?

पर्यावरण संकट का मुद्दा प्रचलित विकास मॉडल की विफलता का परिणाम था। एक दिलचस्प तथ्य यह है कि एक दशक पूर्व इसकी कोई परिकल्पना भी नहीं थी। अब तक पूँजीवादी, नरम समाजवादी, मार्क्सवादी सभी चिंतक यही सोचते रहे थे कि प्रकृति के पास संसाधनों का अक्षय भंडार है जो कभी खत्म नहीं होगा। परंतु 1960 तक पर्यावरण की समस्या उभरने लगी थी। फिर भी पर्यावरण के संबंध में वास्तविक जागृति उत्पन्न करने में 'Silent Spring' जैसी पुस्तक की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। इसकी लेखिका, रेचेल कारसन (Rachel Carson), को बहुत लोकप्रियता मिली। आगे इस समस्या पर विचार करने के लिये 1972 में स्टॉकहोम में पर्यावरण पर पहली अंतर्राष्ट्रीय बैठक हुई। अफसोस यह रहा कि इस संकट के आरंभ हो जाने के बाद भी विश्व समुदाय ने समस्या के समाधान के लिये परस्पर एकता नहीं दिखाई तथा साम्यवादी समूह ने इसका बहिष्कार किया था। भारत ने इसमें हिस्सा लिया तथा भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने विकासशील देशों के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए घोषित किया कि 'Polluters Must Pay' अर्थात् पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले विकसित देश ही इसकी कीमत चुकाएँ। वस्तुतः भारत का दृष्टिकोण यह था कि विकसित देशों ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व अपने औद्योगीकरण की प्रक्रिया आरंभ की थी, इसलिये अधिकांश प्रदूषण के लिये वे उत्तरदायी हैं। अतः उन्हें ही इसकी कीमत चुकानी चाहिये। (भारत लगभग 2011 के डरबन सम्मेलन तक अपने इस विचार पर डटा रहा।)

तेल संकट तथा केंसियन अर्थशास्त्र का पतन

तेल संकट ने विश्व अर्थव्यवस्था को एक नई दिशा दे दी। तेल संकट का एक तात्कालिक प्रभाव था केंसियन अर्थशास्त्र का पतन।

केंसियन अर्थशास्त्र के पतन के क्या कारण थे?

इसका उत्तर जानने के लिये जे.एम. केंस के द्वारा प्रतिपादित माँग प्रबंधन (Demand Management) की नीति को समझने की ज़रूरत है। उसके विचार में अर्थव्यवस्था में 'माँग में गिरावट' एवं 'मुद्रास्फीति' दोनों समस्याएँ कभी भी एक साथ नहीं आ सकती। अतः दोनों स्थिति के लिये उसने सरकार को अलग-अलग उपचार बताया था अर्थात् माँग की गिरावट की स्थिति में सरकारी व्यय को बढ़ाना एवं कर में कटौती करना, जबकि मुद्रास्फीति की स्थिति में सरकारी व्यय में कटौती करना, वहीं कर की दर को बढ़ाना। परंतु तेल संकट ने अर्थव्यवस्था के समक्ष दोनों प्रकार की बीमारियाँ एक साथ ला दीं।

जैसा कि हमने देखा कि केंसियन अर्थशास्त्र ने लगभग दो दशकों तक विश्व अर्थव्यवस्था में संतुलन बनाकर रखा था, परंतु तेल संकट ने उस संतुलन को बिगाड़कर रख दिया तथा उसने एक नई प्रकार की आर्थिक समस्या को जन्म दिया जिसे 'स्टैगफ्लेशन' (Stagflation) के नाम से जाना गया। स्टैगफ्लेशन उस स्थिति को दर्शाता है जब मुद्रास्फीति तथा मंदी की स्थिति एक साथ आ जाती है। इस स्थिति के लिये तेल संकट बहुत हद तक उत्तरदायी था। तेल संकट के परिणामस्वरूप पेट्रोलियम उत्पादों की कीमत में गुणात्मक रूप में वृद्धि हुई तथा इसने 'काले हीरे' का रूप ले लिया। किंतु कुछ ही देश थे जो पेट्रोलियम उत्पादक थे, बाकी अन्य देश उसके उपभोक्ता थे। ये देश खाड़ी देशों से पेट्रोलियम उत्पाद खरीदते थे। अतः संपूर्ण विश्व से अधिकांश मुद्रा खाड़ी देशों की ओर जाने लगी। अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव निम्नलिखित रूप में देखा गया-

- **माँग में गिरावट**- पेट्रोलियम आयातक देशों के संसाधन पेट्रोलियम उत्पादक खाड़ी देशों की ओर जाने लगे, इस कारण पेट्रोलियम आयातक देशों की क्रय शक्ति में कमी आई। चूँकि खाड़ी देशों के पास अतिरिक्त संसाधन आ गये थे। अतः उनसे अपेक्षा की गई कि वे खुलकर खर्च करें, परंतु उन्होंने खर्च करने के बजाय बचत करने में अधिक रुचि ली। इस कारण वैश्विक स्तर पर माँग में गिरावट आ गई।
- दूसरी तरफ, चूँकि पेट्रोलियम उत्पाद महँगा था तथा पेट्रोलियम आयातक देश इसका उपयोग ईंधन एवं कच्चे माल दोनों रूप में करते थे, अतः स्वाभाविक रूप में उनके उत्पाद महँगे हो गए (क्योंकि इनपुट ही महँगा था)। इसका अर्थ है माँग में गिरावट के बावजूद उत्पादों की कीमत में गिरावट संभव नहीं थी क्योंकि उत्पादन ही अपने आप में महँगा था।

ज़ाहिर है कि ऐसी स्थिति में विश्व अर्थव्यवस्था में एक नवीन चुनौती उपस्थित हुई। इसे 'स्टैगफ्लेशन' के नाम से जाना गया। यह एक नई प्रकार की चुनौती थी जिससे आर्थिक विशेषज्ञ भी अपरिचित थे। केंसियन अर्थशास्त्र के पास इसका समाधान नहीं था।

वॉशिंगटन सहमति

वॉशिंगटन सहमति से क्या तात्पर्य है तथा इसकी पृष्ठभूमि कैसे निर्मित हुई?

वॉशिंगटन सहमति से तात्पर्य है 1989 में अर्थव्यवस्था में सरकार के नियंत्रण को सीमित कर उसे बाह्य व्यापार एवं निवेश के लिये खोलना। इसे 'विलियमसन' नामक अर्थशास्त्री ने 'वॉशिंगटन सहमति' (Washington Concensus) का नाम दिया है। इस नवीन आर्थिक

नीति को विकसित करने में दो आर्थिक विशेषज्ञों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। ये विशेषज्ञ थे- फ्रेडरिक हायेक एवं मिल्टन फ्रीडमैन। फ्रेडरिक हायेक लगभग केंस का ही समकालीन रहा था तथा फ्रीडमैन उसके थोड़े बाद का। इन दोनों ने आरंभ से ही केंस की नीति का विरोध किया था। इनके विचार में अर्थव्यवस्था में सरकार का हस्तक्षेप अथवा राजकोषीय नीति समस्या का उचित समाधान नहीं है। इन दोनों ने स्वतंत्र अर्थव्यवस्था तथा सरकार की भूमिका में कटौती की माँग की। फ्रेडरिक हायेक का तो यहाँ तक मानना था कि केंसियन अर्थशास्त्र न केवल अर्थव्यवस्था में असंतुलन ला देगा, बल्कि यह एक निरंकुश सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करेगा। उसने अपनी पुस्तक `Road to the Slavery' में मानव स्वतंत्रता पर खतरे की ओर संकेत किया। वहीं मिल्टन फ्रीडमैन शिकागो समूह के अर्थशास्त्रियों से जुड़ा हुआ था तथा वह मोनेटरिस्ट (Monetarist) विचार का समर्थक था। वह अर्थव्यवस्था में गति के लिये मुद्रा प्रवाह (Money Supply) की बात करता था। उसका तो यहाँ तक मानना था कि जे.एम. केंस ने आर्थिक मंदी के कारणों की खोज करने में ही गलती की थी। 1929-30 की मंदी का मुख्य कारण माँग में कमी नहीं, बल्कि अमेरिकी फेडरल रिज़र्व (Central Bank) के द्वारा अर्थव्यवस्था में पर्याप्त मुद्रा प्रवाह (Money-Supply) नहीं कर पाना था। (जैसाकि हम जानते हैं कि मुद्रा कम होने का अर्थ है माँग में स्वाभाविक गिरावट आ जाना।) आरंभ में इन अर्थशास्त्रियों के विचार को गंभीरता से नहीं लिया गया। किंतु 1970 के तेल संकट ने जब केंसियन अर्थशास्त्र में व्यवधान पैदा किया, तब लोगों का ध्यान इस ओर गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् के तीन दशकों तक जे.एम. केंस की आर्थिक नीति का प्रभाव रहा था। वहीं तेल संकट के पश्चात् के तीन दशकों तक मोनेटरिस्ट अर्थशास्त्रियों की नीति का प्रभाव बना रहा।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री मार्ग्रेट थैचर तथा अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन इन दोनों अर्थशास्त्रियों से काफी प्रभावित हुए। वैसे भी, मध्यवर्ग का झुकाव Minimal State (छोटे राज्य) पर रहा था जिसका मॉडल क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने रखा था, परंतु मजबूरी में उन्हें केंसियन अर्थशास्त्र के प्रबंधन को स्वीकार करना पड़ा था। केंसियन अर्थशास्त्र का बल बड़े राज्य (Maximal State) पर रहा था। अत: फिर जब वॉशिंगटन सहमति के तहत राज्य की शक्ति सीमित करने की बात की गई, तो इसने मध्यवर्ग को आकर्षित किया। फिर रीगन-थैचर की पहल पर 1989 में वॉशिंगटन सहमति (Washigton Consensus) लाया गया, जिसने नव-उदारवादी आर्थिक नीति का आधार निर्मित किया।

अरब क्षेत्र तथा पश्चिम एशिया में नवीन चुनौतियाँ

तेल संकट ने पश्चिम एशिया एवं अरब क्षेत्र के पश्चिमी देशों के साथ संबंधों में क्या परिवर्तन लाए?

जैसा कि हमने देखा संयुक्त राज्य अमेरिका ने खाड़ी क्षेत्र में अपने हस्तक्षेप बढ़ा दिये तथा अपनी समर्थक सरकार एवं सैनिक तानाशाहों की स्थापना पर बल दिया था। ईरान में उसके द्वारा एक समर्थक शाह की सरकार स्थापित की गई थी। परंतु ईरान में एक अनुदारवादी उलेमा अयातुल्ला खुमैनी ने ईरान की शाह की सरकार के विरुद्ध विद्रोह भड़काया, फलस्वरूप ईरान में शाह की सरकार गिर गई। इस घटना के साथ इस्लामी रूढ़िवाद (Islamic fundamentalism) को बहुत ही प्रोत्साहन मिला। सबसे बढ़कर ईरान में अमेरिकी दूतावास पर हमला कर उसके अधिकारियों एवं कर्मचारियों को बंदी बना लिया गया तथा उन्हें 444 दिन तक नज़रबंद रखा गया। इस कारण ईरान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच मतभेद एवं दूरी काफी बढ़ गई।

इस घटना ने एक अन्य घटना को जन्म दिया और वह था- ईरान-इराक युद्ध। ईरान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच संघर्ष को देखते हुए इराक ने उससे फायदा उठाना चाहा तथा इराक ने कुछ विवादास्पद भू-भाग पर कब्ज़ा करने का प्रयास किया। इसने ईरान-इराक युद्ध को जन्म दिया, जो आठ वर्षों तक चलता रहा तथा 1988 ई. में जाकर समाप्त हुआ।

इस काल में चीन एक बड़े बदलाव के लिये जाना जाता है। 1978 में माउत्सेतुंग के उत्तराधिकारी के रूप में चीन में एक नेता देंग चिआओपिंग स्थापित हुआ। वह माउत्सेतुंग के विचारों से मतभेद रखता था। उसने 1979 में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत की। इसने चीन की अर्थव्यवस्था को बदल दिया। परंतु यहाँ गौर करने वाली बात यह है कि जहाँ सोवियत रूस एवं पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में परिवर्तन के साथ स्वयं साम्यवाद ही ध्वस्त हो

गया, चीन में इतने बड़े परिवर्तन के बाद भी साम्यवादी सरकार की मज़बूत स्थिति कायम रही तथा चीन बाज़ार पर आधारित समाजवाद का उदाहरण बना रहा। इसे 'चीनी सहमति' (Chinese Concensus) के नाम से जाना जाता है। वस्तुत: इसका कारण था चीन के द्वारा आर्थिक उदारीकरण के बाद भी राजनीतिक नियंत्रण को ढीला नहीं किया जाना।

सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन

तेल संकट के कारण सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था किस प्रकार प्रभावित हुई?

सोवियत रूस समाजवादी विश्व का मुखिया था तथा शीतयुद्ध में साम्यवादी गुट का नेतृत्व कर रहा था, परंतु न केवल शीतयुद्ध में उसकी मज़बूत स्थिति, बल्कि एक राष्ट्र के रूप में भी उसका भविष्य बहुत हद तक उसके आर्थिक मॉडल की सफलता पर निर्भर करता था। वैसे तो उसके आर्थिक मॉडल में व्यवधान आना तो पहले ही शुरू हो गया था, किंतु तेल संकट ने इसकी अर्थव्यवस्था के अंतर्विरोधों को और भी उजागर कर दिया।

जैसा कि पीछे हमने देखा कि सोवियत रूस के प्रधान स्टालिन के आर्थिक सुधारों ने सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था को गति दी थी। समाजवादी मॉडल के तहत सोवियत रूस में अभूतपूर्व रूप से मानव संसाधन का विकास, कृषि संसाधनों का दोहन तथा तीव्र औद्योगीकरण हुआ था जिससे सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था में व्यापक प्रगति हुई थी तथा आर्थिक मंदी के काल में इसने संपूर्ण विश्व को अचंभित कर दिया था, परंतु समाजवादी अर्थव्यवस्था की दो निहित कमज़ोरियाँ बनी रही थीं। प्रथम, बाज़ार की उत्प्रेरणा (Incentive) नहीं होने की वज़ह से संवृद्धि (Growth) का कम हो जाना।

दूसरे, नौकरशाही की अत्यधिक भूमिका के कारण भ्रष्टाचार एवं लालफीताशाही (Red Tapism) में वृद्धि हो जाना। इस कारण 1960 के दशक के पश्चात् सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था पिछड़ने लगी थी।

फिर तेल संकट ने इसकी संरचना में कुछ मूलभूत परिवर्तन ला दिये। तेल संकट का आरंभिक लाभ सोवियत रूस को प्राप्त हुआ क्योंकि उसके पास पेट्रोलियम का बड़ा भंडार था। अत: वह बड़े पैमाने पर पेट्रोलियम उत्पादों का निर्यातक बन गया। फिर पेट्रोलियम उत्पादों के निर्यात से जो बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा का अर्जन होने लगा, उसका एक भाग वह सैन्य तैयारी पर खर्च करने लगा। दूसरी तरफ, एक नकारात्मक पक्ष था पेट्रोलियम उत्पादों के निर्यात से अर्जित धन के कारण तकनीकी नवीनीकरण से ध्यान हट जाना। अत: सोवियत रूस ने स्पुतनिक मोमेंट (Spuitnik Moment) को खो दिया, जिसके लिये सोवियत रूस जाना जाता था। (सोवियत रूस ने यूएसए से पहले 'स्पुतनिक' नामक स्पेस शटल को अंतरिक्ष में भेजकर साम्यवादी रूस की सफलता की घोषणा थी।)

शीतयुद्ध के अधिभार *(Burden)* के कारण आर्थिक संकट की स्थिति

शीतयुद्ध का प्रभाव रूसी अर्थव्यवस्था पर 1980 के दशक में दिखने लगा। एक तरफ रूसी अर्थव्यवस्था पिछड़ रही थी, तो दूसरी तरफ उस पर शीतयुद्ध का दबाव भी बढ़ता जा रहा था। 1979 में सोवियत रूस के प्रधान ब्रेजनेव ने अफगानिस्तान में सेना भेजकर बड़ी भूल की। सोवियत रूस अफगानिस्तान में एक अंतहीन युद्ध में उलझ गया। फिर जब 1984 में अमेरिका में प्रेसीडेंट रीगन का आगमन हुआ, तो उसने स्टार वार कार्यक्रम के रूप में हथियारों की नई होड़ आरंभ कर दी। इस कारण सोवियत रूस पर दबाव और भी बढ़ गया। तभी 1985 में सोवियत रूस में नए प्रेसीडेंट के रूप में मिखाइल गोर्बाचेव का आगमन हुआ। उसमें बदलाव एवं परिवर्तन करने का उत्साह था। सर्वप्रथम उसने अमेरिकी प्रेसीडेन्ट से अस्त्र परिसीमन वार्ता आरंभ की। इसके परिणामस्वरूप तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया आरंभ हुई। दूसरे, उसने सोवियत रूस में आर्थिक एवं राजनीतिक सुधार की प्रक्रिया आरंभ कर दी।

आर्थिक संकट, नस्लीय विभाजन, नए राष्ट्रपति गोर्बाचेव की नीति एवं कुछ अन्य संबद्ध कारणों से सोवियत रूस का विघटन

क्या सोवियत रूस का विघटन एक जटिल प्रक्रिया का परिणाम था अथवा रूसी अर्थव्यवस्था में शिथिलता का परिणाम?

सोवियत रूस पहले से ही आर्थिक संकट के दौर से गुज़र रहा था। फिर रूसी राष्ट्रपति गोर्बाचेव ने जो समाधान प्रस्तुत किया, यह समाधान समस्या से भी अधिक घातक सिद्ध हुआ। यह समाधान था 'पेरेस्त्रोइका' एवं 'ग्लॉसनोस्त' की नीति। पेरेस्त्रोइका का अर्थ है- आर्थिक पुनर्रचना अर्थात् इस नीति के तहत उसने रूसी अर्थव्यवस्था को पूँजीवादी मॉडल के प्रभाव में बाज़ार से जोड़ने का प्रयास किया। इस कारण अर्थव्यवस्था में उथल-पुथल आ गई। इसके परिणामस्वरूप लोगों में बेचैनी काफी बढ़ गई। वहीं ग्लॉसनोस्त की नीति से तात्पर्य है- वैचारिक खुलेपन की नीति। इस नीति के तहत लोगों को खुले रूप से विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता दे दी गई। परन्तु आर्थिक उथल-पुथल के बीच वैचारिक आज़ादी देना बड़ा घातक सिद्ध हुआ। चीन में इसके विपरीत स्थिति देखने को मिली थी एक तरफ वहाँ

अर्थव्यवस्था का पूँजीवादी रूपांतरण तो हुआ, परंतु लोगों की वैचारिक स्वतंत्रता को दबाए रखा था। इसलिये वहाँ अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण ढंग से समाजवादी अर्थव्यवस्था से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में संक्रमण हो गया था।

दूसरी तरफ सोवियत रूस का स्वरूप बहुनस्लीय रहा था। (19वीं सदी में भी ऑटोमन साम्राज्य एवं हैब्सबर्ग साम्राज्य की तरह रूसी साम्राज्य भी बहुनस्लीय दबाव झेल रहा था)। अत: विभिन्न नस्लीय समूहों के लोगों ने पृथक् राष्ट्र की माँग उठाना आरंभ कर दिया था। उन्होंने कई दशक पूर्व अपनी राजनीतिक आज़ादी को गँवा दिया था, अब वे आर्थिक बेचैनी को सहन करने के लिये तैयार नहीं थे, वहीं सोवियत रूस के राजनीतिक नेता भी विभिन्न नस्लीय समूह के लोगों को भड़का रहे थे। उनमें से एक बोरिस येल्तसिन था जो रूसी गणतंत्र का प्रधान चुना गया था तथा वह रूसी गणतंत्र को स्वतंत्र कर अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिये विभाजन को प्रोत्साहन दे रहा था। परिणामत: एक के बाद एक सोवियत संघ के गणतंत्र राज्य स्वतंत्रता की घोषणा करने लगे। सर्वप्रथम बाल्टिक गणतंत्र, लैटेविया, लिथुआनिया एवं स्टोनिया ने 1990 में स्वतंत्रता की घोषणा की। फिर यूक्रेन ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। अत: सोवियत संघ के प्रधान गोर्बाचेव ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। अंत में 1991 में सोवियत रूस का विघटन हो गया। इस प्रकार विश्व की दूसरी महाशक्ति, जिसे अमेरिकी हथियार भी नहीं हरा पाए थे, आंतरिक कारणों से विघटित हो गया। (इस घटना के बाद ही किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा में आंतरिक सुरक्षा का मुद्दा प्रमुख मुद्दे के रूप में उभरा)।

सोवियत रूस के विघटन के कारण निम्नलिखित तात्कालिक परिणाम सामने आए-

पूर्वी यूरोप के देशों में समाजवादी अर्थव्यवस्था का पतन तथा चेकोस्लोवाकिया एवं यूगोस्लाविया का विघटन

पूर्वी यूरोप में समाजवादी व्यवस्था के पतन के क्या कारण थे?

पूर्वी यूरोप का समाजवादी मॉडल आरंभ से अंत तक सोवियत संघ पर निर्भर रहा था। इन देशों में समाजवादी मॉडल की स्थापना जन क्रांति के माध्यम से नहीं, बल्कि सोवियत रूस के सैन्य नियंत्रण के माध्यम से स्थापित हुई थी। अत: इन क्षेत्रों में सरकारों की सही मायने में कभी भी वैधता (Legitimacy) प्राप्त नहीं हुई थी अर्थात् इसे लोगों की स्वीकृति नहीं मिली थी। फिर लोगों को समाजवादी सरकारों से आर्थिक सुरक्षा की जो उम्मीद थी, वह भी पूरी नहीं हो पायी क्योंकि जैसा कि हम देखते हैं सामाजिक-आर्थिक मॉडल में एक प्रकार का संकट उत्पन्न होने लगा था। फिर सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित तृतीय औद्योगिक क्रांति (तृतीय औद्योगिक क्रांति की चर्चा आगे होगी) के दौर में भी समाजवादी देश पिछड़ गए थे। दूसरी तरफ, सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों की जनता, पश्चिमी यूरोप में अपने ही भाई-बिरादर की समृद्धि की झलक पा रही थी। इस कारण उनके मन में बेचैनी उत्पन्न हो गई। अंत में, पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में सोवियत संघ ने अपनी एक सेना रखी हुई थी। इस कारण भी लोग विद्रोह करने से डरते थे, परंतु सोवियत रूस के प्रेसीडेंट गोर्बाचेव ने जब नियंत्रण को ढीला करते हुए अपनी सेना वापस लाने की घोषणा की, तो उन देशों में परिवर्तन को प्रोत्साहन मिला।

परिवर्तन की प्रक्रिया सर्वप्रथम 1988 में पोलैंड से आरंभ हुई। फिर 1989 में जर्मनी की बर्लिन दीवार गिर गई (इस दीवार का निर्माण शीतयुद्ध के काल में 1961 में हुआ था)। फिर 1990 में ब्रिटेन, फ्राँस, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस की बैठक के 45 वर्षों के पश्चात् जर्मनी का पुनर्एकीकरण हुआ। 1990 तक पूर्वी यूरोप के सभी देशों में समाजवादी व्यवस्था का अंत हो गया। ये देश थे- पोलैंड, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रोमानिया, बुल्गारिया, यूगोस्लाविया तथा अल्बानिया।

समाजवादी समूह के देशों में चेकोस्लोवाकिया एवं यूगोस्लाविया का विघटन क्यों और कैसे हुआ?

हमने पीछे देखा था कि पेरिस शांति सम्मेलन में उपर्युक्त दोनों राष्ट्रों का गठन हुआ था। इसका गठन विल्सन के 14-सूत्री कार्यक्रम के आधार पर किया जाना था जिसके तहत प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीयता के लोगों को आत्मनिर्णय की माँग (Right to Self-Judgement) के अनुकूल पृथक् राष्ट्र के रूप में गठित किया जाना था, किंतु कुछ अन्य उद्देश्यों से प्रेरित होकर पेरिस शांति संस्थापकों ने जिन राष्ट्रों की स्थापना की, वे अपने स्वरूप में बहु भाषा-भाषी एवं बहु नस्लीय ही रह गए थे। इसलिये इनकी राष्ट्रवादी आकांक्षा पूरी नहीं हो सकी थी। 1945 से 1990 के बीच पूरे 45 वर्षों तक यह कठोर समाजवादी सरकार के द्वारा दबाकर रखे गए थे, परंतु जैसे ही समाजवादी नियंत्रण ढीला हुआ, तो इनके पुराने नस्लीय विभाजन ने सिर उठाया, फिर चेकोस्लोवाकिया एवं यूगोस्लाविया का विघटन हो गया। एक ब्रिटिश इतिहासकार, एरिक हॉब्सबॉम, ने यह घोषित किया कि यह पेरिस शांति सम्मेलन का अधपका चिकेन है जो दोबारा पकने आया है।

चेकोस्लोवाकिया का तो कुल मिलाकर शांतिपूर्ण विभाजन हुआ तथा यह चेक एवं स्लाव दो गणतंत्र में बँट गया, परंतु यूगोस्लाविया 6 राष्ट्रों में विभाजित हो गया, यथा- क्रोएशिया, बोस्निया-हर्जेगोविना, सर्बिया, मोंटेनिग्रो तथा मेसोडोनिया। फिर सर्बिया से कोसोवो पृथक् हो गया तथा जब सर्बिया ने उसका उग्र दमन आरंभ किया, तो 1999 में संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से नाटो ने इसमें हस्तक्षेप किया तथा सर्बिया के दमन के लिये सैनिक कार्रवाई आरंभ कर दी। इसे ही कोसोवो संकट का नाम दिया जाता है। फिर पश्चिमी देशों की शह पर कोसोवो को एक पृथक् राष्ट्र घोषित कर दिया गया।

तृतीय विश्व के देशों की स्थिति का कमज़ोर हो जाना

शीतयुद्ध की समाप्ति ने तृतीय विश्व के देशों की स्थिति क्यों कमजोर कर दी?

शीतयुद्ध की समाप्ति का प्रभाव तृतीय विश्व के देशों पर भी देखा गया। इन देशों की सौदेबाज़ी की शक्ति (Bargaining Position) कमज़ोर हुई। प्रथम, सोवियत रूस की उपस्थिति के कारण पश्चिम के पूँजीवादी देशों पर दबाव बनाए रखने में उसे सुविधा होती थी। डर से पश्चिमी देश इन देशों को थोड़ी रियायत देते थे, ताकि ये सोवियत रूस की ओर न झुकें। इस प्रकार तृतीय विश्व के देशों को लाभ मिलता। दूसरे, गुटनिरपेक्ष आंदोलन की आंतरिक कमज़ोरियाँ पहले ही प्रकट होने लगी थीं। अब शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता पर ही प्रश्न चिह्न लग गया। 1989 के बेलग्रेड सम्मेलन के पश्चात् यह मुद्दा उपस्थित हुआ कि जब गुट ही नहीं है, तो गुटनिरपेक्षता क्या?

समाजवादी अर्थव्यवस्था के विघटन के पश्चात् विश्व में पूँजीवाद की प्रगति

क्या समाजवादी अर्थव्यवस्था का बिखराव मार्क्सवाद की विफलता का सूचक था?

इस प्रश्न का उत्तर अपने आप में बड़ा ही जटिल है। जैसा कि हमने पीछे देखा कि मार्क्स ने क्रांति की रणनीति की चर्चा की थी, परंतु इस पर अपना कोई मॉडल नहीं दिया था कि सर्वहारा के शासन में सरकार का स्वरूप क्या होगा? इसलिये सोवियत रूस में जो मॉडल स्थापित हुआ, वह लेनिन से लेकर स्टालिन के काल तक एक लंबे प्रयोग का परिणाम था। फिर वही मॉडल पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों पर थोपा गया था। न तो क्रांति की प्रक्रिया, न ही सरकार की पद्धति कार्ल मार्क्स से ली गई थी। तो फिर क्या यह सोवियत रूस के मॉडल में बिखराव मार्क्सवाद के अंत की घोषणा से जोड़ा जाना चाहिये?

समाजवादी मॉडल के बिखराव से पूँजीवाद की प्रगति को किस प्रकार प्रोत्साहन मिला?

वस्तुतः 1990 तक विश्व दो आर्थिक मॉडल में विभाजित था- उदारवादी पूँजीवादी मॉडल तथा समाजवादी मॉडल। समाजवादी मॉडल एक प्रतिद्वंद्वी मॉडल के रूप में स्थापित था। तृतीय विश्व के कुछ देश पूँजीवादी मॉडल के साथ कुछ समाजवादी तत्त्वों को मिश्रित करने का प्रयास कर रहे थे, परंतु समाजवादी मॉडल के विघटन के पश्चात् संपूर्ण विश्व में पूँजीवाद के प्रसार का रास्ता तैयार हो गया।

समाजवादी आर्थिक मॉडल के विघटन से उत्साहित होकर जापानी मूल के एक अमेरिकी चिंतक, फ्राँसिस फुकियामा, ने 'इतिहास के अंत' की घोषणा कर दी। 1992 में उसने 'द एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन' (The End of History and the Last Man) के नाम से एक पुस्तक लिखी। उसका कहना था कि इतिहास की प्रक्रिया संघर्ष के माध्यम से आगे बढ़ती है, परंतु इस संघर्ष में अंतिम रूप में उदारवादी-पूँजीवादी मॉडल की जीत हो गई। अत: संघर्ष का अंत हो गया तथा इसी के साथ इतिहास का अंत हो गया। हालाँकि, इसके एक वर्ष पश्चात् 1993 में एक अन्य अमेरिकी विद्वान- सैम्युअल पी. हटिंगटन ने इस विचार को चुनौती देते हुए 'Clash of Civilizations' की अवधारणा रखी। उसका विचार सोवियत रूस, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया आदि राष्ट्रों के विघटन से प्रभावित था। उसने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि इतिहास मुख्यत: सभ्यताओं के बीच का संघर्ष है, परंतु चूँकि शीतयुद्ध के काल में विश्व मुख्य रूप से विचारधाराओं के बीच विभाजित हो गया था, इसलिये यह संघर्ष दबा हुआ था। अत: शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ ही इस संघर्ष ने सिर उठाया और फिर यूगोस्लाविया एवं चेकोस्लोवाकिया का विघटन हो गया। आरंभ में इस विचारधारा को गंभीरता से नहीं लिया गया था, परंतु 2001 में संयुक्त राज्य अमेरिका पर आतंकी हमले के बाद यह विचार तूल पकड़ने लगा था।

संयुक्त राज्य अमेरिका का खाड़ी देशों पर बढ़ता वर्चस्व तथा फिलिस्तीन-इज़राइल मुद्दे के कारण तनाव में वृद्धि

वस्तुत: अरब क्षेत्र से पश्चिमी देशों के संबंधों का युग प्रथम विश्व युद्ध एवं पेरिस शांति सम्मेलन से ही आरंभ हुआ था, जब अरब राष्ट्रवाद के साथ विश्वासघात किया गया था। फिर इस क्षेत्र में पेट्रोलियम भंडार की खोज ने स्थिति को और भी जटिल बना दिया था। आगे जब 1973-74 में प्रथम तेल संकट घटित हुआ और 1979 में ईरानी क्रांति हुई, तब संयुक्त राज्य अमेरिका और भी चौकन्ना हो गया, क्योंकि अब मामला पूँजीवादी विश्व की तेल सुरक्षा का था। वस्तुत: तीन कारकों ने संयुक्त राज्य अमेरिका एवं अरब क्षेत्र के संबंधों को अत्यधिक जटिल बना दिया। ये कारक थे- सोवियत रूस, इज़राइल एवं पेट्रोलियम उत्पाद। संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रयास रहा था- सोवियत रूस के प्रभाव को सीमित रखना एवं इज़राइल के हितों को सुरक्षित करना।

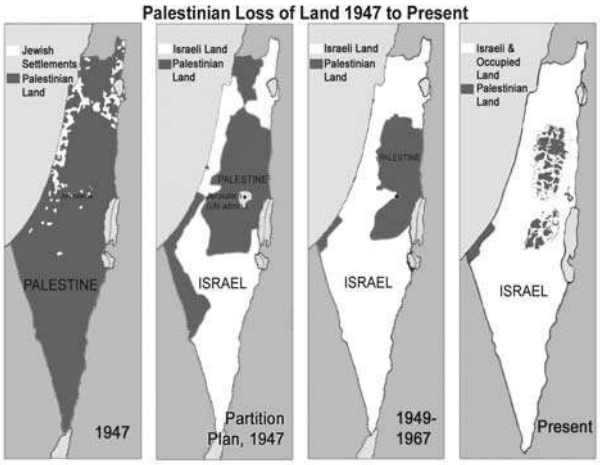

फिर अरब क्षेत्र में एक त्रिकोणात्मक संघर्ष कायम हुआ- शिया ईरान बनाम सुन्नी सऊदी शक्ति बनाम यहूदी राष्ट्र इज़राइल। अब संयुक्त राज्य अमेरिका का निम्नलिखित प्रयास रहा था- प्रथम, खाड़ी क्षेत्र में अधिक-से-अधिक अमेरिका समर्थक सरकारों को स्थापित करवाना। दूसरा, सऊदी अरब जैसे सर्वाधिक पेट्रोलियम उत्पादक देश को अपने प्रभाव क्षेत्र में लेकर तेल सुरक्षा को बनाए रखना। तीसरा, सऊदी अरब के अंतर्गत सुन्नी गुट को इज़राइल के निकट लाकर शिया ईरान को अलग-थलग करना। वस्तुत: 1979 में ईरानी क्रांति एवं ईरान में अमेरिकी दूतावास पर नियंत्रण ने यूएसए और ईरान के मध्य शत्रुतापूर्ण संबंधों को जन्म दिया था।

आगे खाड़ी क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति इसी दिशा में आगे बढ़ी। वस्तुत: 1973-74 में पेट्रोलियम की नाकेबंदी करने में, जो तेल संकट के नाम से जाना जाता है, सऊदी अरब के शासक 'फैसल' की बड़ी भूमिका रही थी, परंतु इस घटना के कुछ समय पश्चात् फैसल की हत्या हो गई। कुछ लोगों का मानना है कि उसकी हत्या में संयुक्त राज्य अमेरिका का हाथ था। फिर सऊदी अरब में अमेरिका समर्थक शासक स्थापित हुआ।

उधर यूएसए ने मिस्र के शासक अनवर सादात एवं इज़राइल के बीच मध्यस्थता कर 1978 में कैम्प डेविड का समझौता करवाया। यहाँ उसका उद्देश्य था इज़राइल को अरब जगत में स्वीकृति

दिलवाना, परंतु ऐसा नहीं हो सका। एक सुन्नी आतंकवादी संगठन, जो फिलिस्तीनियों से सहानुभूति रखता था तथा जिसे 'हमास' नाम से जाना जाता है, ने अनवर सादात की हत्या कर दी। अनवर सादात के उत्तराधिकारी के रूप में होस्नी मुबारक स्थापित हुआ, वह भी अमेरिका समर्थक बना रहा।

उधर 1990-91 में खाड़ी क्षेत्र में एक बड़ा संकट उपस्थित हुआ। इसे 'प्रथम खाड़ी संकट' के नाम से जाना जाता है। इस संकट का कारण था- इराक के सैनिक तानाशाह सद्दाम हुसैन द्वारा कुवैत पर हमला कर उसे जीत लेना। इस घटना से संयुक्त राज्य अमेरिका बहुत आहत हुआ क्योंकि वह सऊदी अरब को इस क्षेत्र में सबसे बड़े पेट्रोलियम उत्पादक के रूप में बनाए रखना चाहता था, परंतु कुवैत के तेल भंडार पर कब्ज़ा करने के बाद इराक उसके समान स्तर पर पहुँच जाता। इसलिये यूएसए ने यूएनओ के तत्वाधान में 28 देशों का एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया। इसमें 13 खाड़ी देश भी शामिल थे। सुन्नी शक्तियों को सुन्नी शासक सद्दाम हुसैन के विरुद्ध ही संगठित किया गया एवं इज़राइल को शांत रहने के लिये कहा गया। चूँकि, शीतयुद्ध समाप्त हो गया था, इसलिये इस प्रकार का संयुक्त मोर्चा बन सका, अंत में कुवैत को फरवरी, 1991 तक स्वतंत्र करा लिया गया था।

इस युद्ध के मध्य एक अहम बात थी- इज़राइल एवं अरब देशों के बीच तनाव कम होना। इसके परिणामस्वरूप फिलिस्तीनियों का मुद्दा कमज़ोर पड़ा एवं अंत में फिलिस्तीन और इज़राइल के बीच 1993 में ओस्लो समझौता संपन्न हुआ।

शीतयुद्ध के काल में सैन्य बढ़त बनाए रखने के लिये किये जाने वाले अनुसंधानों से तकनीकी विकास संभव हुआ

जिसे आज हम 'सूचना प्रौद्योगिकी' के नाम से जानते हैं, उसका विकास एक लंबे काल के अनुसंधान एवं विकास (Research and Development) का परिणाम था और यह अनुसंधान एवं विकास शीतयुद्ध काल में सैनिक क्षेत्र में बढ़त हासिल करने के उद्देश्य से ही हो रहा था। इसी क्रम में कुछ ऐसी तकनीकी का विकास संभव हुआ, जो आगे सूचना प्रौद्योगिकी का आधार बनी। ये तकनीकी थीं- 1980 के दशक में सैटेलाइट टीवी एवं डायरेक्ट डायलिंग सिस्टम का विकास। सबसे बढ़कर, एक ब्रिटिश वैज्ञानिक टिम बर्नर्स ली ने world-wide-web का विकास किया। यह 1995 में पूरी तरह विकसित होकर सामने आया और इंटरनेट क्रांति का आधार बना।

सूचना प्रौद्योगिकी के विकास को 'तृतीय औद्योगिक क्रांति' (Third Industrial Revolution) का नाम दिया जाता है। अगर प्रथम औद्योगिक क्रांति ने ऊर्जा के रूप में कोयले तथा द्वितीय औद्योगिक क्रांति ने पेट्रोलियम उत्पाद पर बल दिया था, तो वहीं तृतीय औद्योगिक क्रांति ने नवीकरणीय ऊर्जा (Renewable Energy) पर बल देने का प्रयास किया। भारत जैसे कुछ देश, जो प्रथम औद्योगिक क्रांति एवं द्वितीय औद्योगिक क्रांति में पीछे छूट गए थे, वे तृतीय औद्योगिक क्रांति के मध्य आगे बढ़कर आए। नेहरूवादी आर्थिक मॉडल का एक स्वाभाविक परिणाम था- बड़ी संख्या में उच्च शिक्षण संस्थानों की स्थापना। हालाँकि, प्राथमिक शिक्षण संस्थानों को प्रोत्साहन नहीं दिये जाने का खामियाजा भारत को भुगतना पड़ा था क्योंकि नेहरूवादी आर्थिक मॉडल के तहत किए जाने वाले औद्योगीकरण की प्रक्रिया लगभग विफल हो गई थी, परंतु उच्च शिक्षण संस्थानों की स्थापना का दूरगामी परिणाम था- बड़ी संख्या में इंजीनियर डिग्रीधारकों का आना। उसी प्रकार, लॉर्ड मैकाले की शिक्षा पद्धति के कई नकारात्मक परिणाम सामने आए, परंतु उसका एक सकारात्मक परिणाम था- भारत में बड़ी संख्या में अंग्रेज़ी ग्रेजुएट की उपस्थिति। इन दोनों कारकों ने भारत को कंप्यूटर सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ा दिया।

पीछे भी हमने देखा है कि औद्योगिक क्रांति ने राजनीतिक एवं सामाजिक आंदोलन का भी मार्ग तैयार किया था। तृतीय औद्योगिक क्रांति भी इसका अपवाद नहीं है। तृतीय औद्योगिक क्रांति, जो सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित है, उसने पूर्वी यूरोप के देशों में एक राजनीतिक सुनामी ला दी थी। पीछे 1946 में 'फुल्टन' नामक स्थान पर चर्चिल ने अपने भाषण में यह स्पष्ट किया था कि सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों पर एक लौह आवरण (Iron Curtain) डाल रखा है, परंतु सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) ने उस लौह आवरण को फाड़ दिया। इस कारण से पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में परिवर्तन को नहीं रोका जा सकता था। इसी प्रकार तृतीय औद्योगिक क्रांति के पश्चात् एक ग्लोबल सिविल सोसायटी अस्तित्व में आई।

तेल संकट एवं पर्यावरण संकट के कारण तृतीय विश्व की अर्थव्यवस्था के विकास में अवरोध

तृतीय विश्व के देशों के विकास के मार्ग में दो बड़ी बाधाएँ उपस्थित हुईं, ये थीं- तेल संकट (Oil Crisis) एवं पर्यावरण संकट (Environmental Crisis)। पीछे हमने देखा था कि जब पूँजीवादी देशों ने अपने औद्योगीकरण की प्रक्रिया आरंभ की थी, तो उन्हें अपने औपनिवेशिक संसाधनों का लाभ मिला था। दूसरी तरफ सोवियत रूस एवं पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों ने अपने कृषि संसाधन एवं मानव संसाधनों का अभूतपूर्व दोहन कर औद्योगीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया था। अब स्वतंत्रता के पश्चात् जब तृतीय विश्व के देशों ने यह प्रक्रिया आरंभ की, तो उनके समक्ष कई चुनौतियाँ उपस्थित हुईं। प्रथम, औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की विरासत के कारण निम्न उत्पादन, निम्न तकनीकी, निम्न मानव संसाधन की गुणवत्ता। फिर भी विभिन्न एशियाई-अफ्रीकी देशों ने अपने ढंग से औद्योगीकरण की प्रक्रिया आरंभ की (यद्यपि अफ्रीकी देश इसमें अपेक्षाकृत पिछड़ रहे थे)। अधिकांश देशों ने पर्याप्त सरकारी हस्तक्षेप के अंतर्गत पूँजीवादी मॉडल को बनाए रखा। वहीं भारत जैसे कुछ देशों ने पूँजीवादी एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था के कुछ गुणों को अपनाते हुए मिश्रित अर्थव्यवस्था का मॉडल अपनाया। परंतु तृतीय विश्व के अधिकांश देश पेट्रोलियम उत्पादों के आयातक थे, इसलिये उनके समक्ष व्यापार संतुलन एवं भुगतान संतुलन (Balance of Payment) की चुनौती उपस्थित हुई और उनकी अर्थव्यवस्था संकट का शिकार हो गई, अपनी पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के मध्य भारत भी भुगतान संतुलन की समस्या को झेलने लगा था।

उसी प्रकार, पर्यावरण संकट उपस्थित होने के पश्चात् पर्यावरण की यह चेतावनी आनी आरंभ हो गई कि अब विश्व अधिक कार्बन उत्सर्जन सहन नहीं कर सकता। तृतीय विश्व के देश यह चाहते थे कि पर्यावरण की रक्षा का दायित्व विकसित देश अपने ऊपर लें एवं इन देशों को औद्योगीकरण की दिशा में आगे बढ़ने दें, परंतु विकसित देशों का झुकाव (Stand) संदिग्ध था। (आयात बिल बढ़ जाने के कारण तृतीय विश्व के देशों का व्यापार घाटा बढ़ा तथा इस बढ़े हुए व्यापार घाटे ने भुगतान संतुलन की समस्या को उत्पन्न कर दिया)

शीतयुद्धोत्तर विश्व व्यवस्था (1991-2008-09)

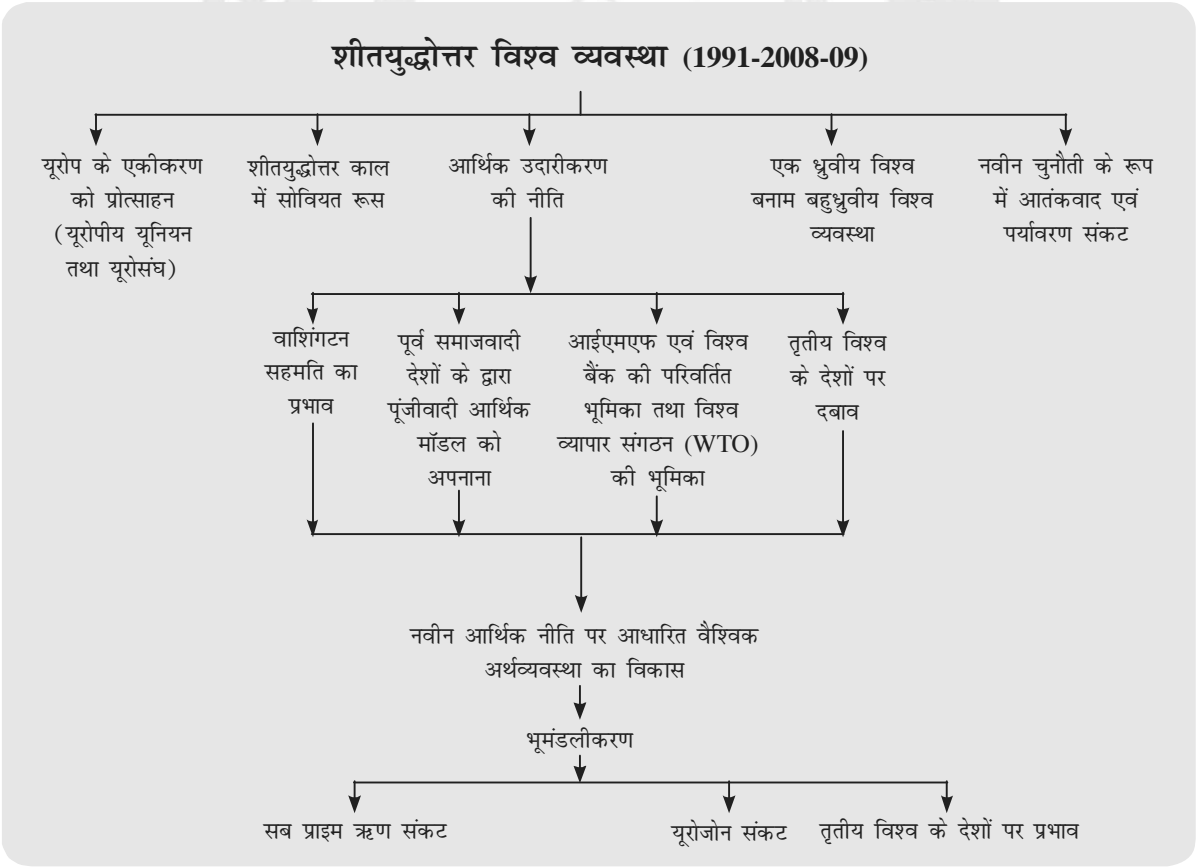

यूरोप के एकीकरण को प्रोत्साहन

वस्तुतः द्वितीय विश्वयुद्ध के काल से ही एक संयुक्त यूरोप के स्वप्न को साकार करने का प्रयास किया जा रहा था, परंतु इस दिशा में बहुत प्रगति नहीं हो पाई थी। इसलिये 1980 तथा 1990 के दशक में इस मुद्दे पर गंभीरता से विचार होने लगा था। आर्थिक एकीकरण की दिशा में और भी प्रगति करने की योजना बनाई गई एवं राजनीतिक एकीकरण की दिशा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए। 1992 में मैस्ट्रिट सम्मेलन को इसी संदर्भ में समझने की ज़रूरत है।

यूरोजोन एवं यूरोपीय संघ के गठन के क्या कारण थे?

इसके लिये एक से अधिक कारण उत्तरदायी रहे थे। प्रथम, फ्राँस जैसे कुछ देशों का यह मानना था कि यूरोप के एकीकरण की दिशा में अधिक प्रगति करने की ज़रूरत है। दूसरे, समाजवादी व्यवस्था के पतन के पश्चात् संयुक्त यूरोप के निर्माण में नवीन संभावनाएँ उपस्थित हुईं। तीसरे, जर्मनी के एकीकरण ने फ्राँस को भयभीत कर दिया था। फ्राँस एकीकृत जर्मनी के नये चांसलर हेलमुट कोल में हिटलर की छवि देख रहा था। वह संयुक्त जर्मनी को संयुक्त यूरोप एवं जर्मन मुद्रा मार्क को यूरोप में घुलाने का प्रयास कर रहा था।

मैस्ट्रिट सम्मेलन के पश्चात् यूरोप के एकीकरण का ढाँचा किस प्रकार विकसित हुआ?

फिर यूरोप के एकीकरण की दिशा में मैस्ट्रिट (1992) में आयोजित सम्मेलन को एक बड़ा कदम माना जाता है। इस सम्मेलन में कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गए थे; यथा- एक संयुक्त बाज़ार का गठन, एक समान मुद्रा (यूरो), एक समान नागरिकता तथा एक समान रक्षा एवं विदेश नीति का संचालन। इसी सम्मेलन के आधार पर 1993 में यूरोपीय यूनियन का गठन हुआ। यूरोपीय यूनियन एक संयुक्त बाज़ार अर्थात् चुंगी मुक्त बाज़ार का प्रतिनिधित्व करता था। फिर 21वीं सदी के आरंभ तक एक संयुक्त मुद्रा के रूप में यूरो स्थापित हो गया। आगे 2005 में कुछ और प्रगति देखी गई तथा यूरोपीय संघ अस्तित्व में आया। इस काल तक यूरोपीय यूनियन का पूरब की तरफ भी विस्तार होता रहा तथा पूर्व सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोप के पूर्व समाजवादी देशों को इसकी सदस्यता मिली।

अतः वर्तमान में यूरोपीय संघ के सदस्यों की संख्या 28 हो गई। इनमें से 19 देशों ने यूरो को स्वीकार किया। अतः वे यूरोजोन के सदस्य बन गए। हालाँकि एक पृथक् रक्षा एवं विदेश नीति की रूपरेखा तैयार की गई, परंतु चूँकि यूरोपीय यूनियन के देश रक्षा एवं विदेश नीति के दायित्व को अपने ऊपर नहीं लेना चाहते थे, इसलिये आगे भी रक्षा के मामले में उनकी निर्भरता नाटो पर बनी रही। किंतु आर्थिक क्षेत्र में यह सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में उभरकर आया। इसे एक संयुक्त यूरोप के निर्माण की दिशा में एक बड़ा कदम माना गया तथा यूरोपीय यूनियन की सफलता ने विश्व के अन्य क्षेत्रीय संगठनों को भी दिशा देनी आरंभ की।

शीत युद्धोत्तर काल में सोवियत रूस

सोवियत रूस के विघटन के साथ मिखाईल गोर्बाचेव का काल समाप्त हो गया। अब सोवियत रूस का स्थान 15 गणतंत्रों ने ले लिया। रूसी गणतंत्र अभी भी सबसे बड़ा था और लगभग दो-तिहाई भू-भाग का प्रतिनिधित्व करता था। रूसी गणतंत्र के प्रेसिडेन्ट के रूप में बोरिस येल्तसिन ने सोवियत रूस के 15 बिखरे टुकड़ों में से 11 को मिलाकर कॉमनवेल्थ ऑफ इन्डिपेन्डेंट स्टेट्स (CIS) का गठन किया तथा इसके माध्यम से विभिन्न स्वतंत्र राज्य अस्तित्व में आए। फिर रूसी गणतंत्र की पहल पर 2014-2015 के पश्चात् यूरोपीयन इकोनोमिक यूनियन (EEU) का गठन हुआ तथा इसमें बेलारूस, कजाखस्तान, रूस, अर्मेनिया तथा किर्गिस्तान शामिल हुए हैं।

आरंभ में रूसी गणतंत्र के प्रमुख ने पश्चिमी देशों के साथ सहयोग की नीति अपनाई थी। उसे विश्वास था कि पश्चिमी देशों से उसे आर्थिक सहायता मिलेगी जिसके परिणामस्वरूप रूसी गणतंत्र का पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के रूप में संक्रमण आसान होगा, परंतु पश्चिमी देशों से उसे निराशा ही मिली।

एक मुद्दा रूसी गणतंत्र एवं यूक्रेन के संबंधों का भी था। सोवियत रूस के परमाणु हथियारों का एक बड़ा जखीरा यूक्रेन में भी था। अतः सोवियत रूस के विघटन के पश्चात् यूक्रेन से यह अपेक्षा की गई थी कि वह समस्त परमाणु हथियार रूसी गणतंत्र को समर्पित कर दे। 1994 में त्रिपक्षीय वार्ता (रूस, यूक्रेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका) के परिणामस्वरूप यह हथियार रूसी गणतंत्र को समर्पित कर दिया गया और बदले में यूक्रेन को सुरक्षा का आश्वासन दिया गया था।

दूसरी तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका पूर्वी यूरोप के पूर्व-समाजवादी देशों में तथा सोवियत रूस के पूर्व गणतंत्रों में अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा था। इन क्षेत्रों में पहले नाटो, फिर यूरोपीयन यूनियन का विस्तार हुआ।

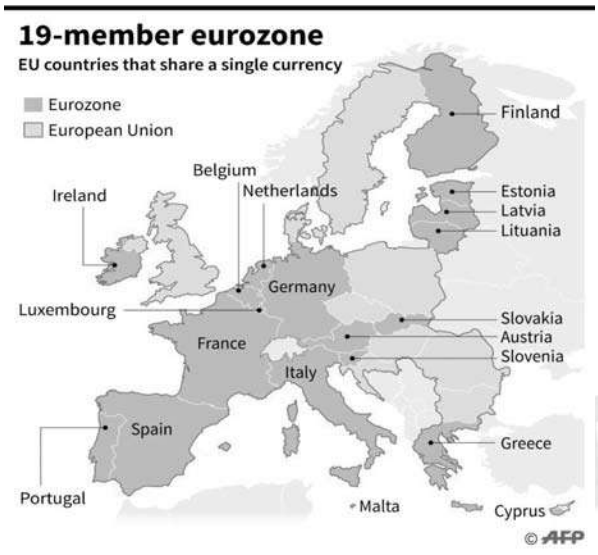

ये मुद्दे आगे रूसी गणतंत्र एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच विवाद का कारण बना। 1999 में रूसी गणतंत्र के प्रधान के रूप में व्लादिमीर पुतिन का उद्भव हुआ। उसने रूस की विदेश-नीति को एक नई दिशा दी। रूस ने पश्चिम की पिछलग्गू नीति को छोड़कर चुनौती का रास्ता अपनाया। पूर्व रूसी क्षेत्र में विस्तार को ध्यान में रखकर उसने 'एनर्जी डिप्लोमेसी' का सहारा लिया। (एनर्जी डिप्लोमेसी से आशय यह है कि इसके माध्यम से रूस ने पूर्व सोवियत संघ के उन क्षेत्रों पर पुनः प्रभाव स्थापित करने का प्रयास किया, जो पश्चिमी खेमे से निकटता स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। जैसे इन देशों को पेट्रोलियम उत्पादों की आपूर्ति रोक देना, ताकि इन देशों को रूसी गणराज्य के साथ सहयोग की नीति अपनाने के लिये मजबूर किया जा सके।) वहीं शंघाई सहयोग संगठन (SCO) के माध्यम से वह चीन के निकट आया। 2007 में व्लादिमीर पुतिन के द्वारा दिए गए वक्तव्य ने एकेडेमिक महकमे में सरगर्मी ला दी तथा इस बात की संभावना व्यक्त की जाने लगी कि शीतयुद्ध पुनर्जीवित हो गया है। उधर चीन का सोवियत रूस के निकट आना शीत युद्धोत्तर काल की राजनीति का महत्वपूर्ण लक्षण बन गया क्योंकि 1971-89 के काल में चीन की सोवियत रूस से दूरी बढ़ गई थी तथा वह संयुक्त राज्य अमेरिका के निकट रहा था।

आर्थिक उदारीकरण की नीति

आर्थिक उदारीकरण से क्या तात्पर्य है तथा किन कारकों ने आर्थिक उदारीकरण की नीति को प्रोत्साहन दिया?

उदारीकरण से तात्पर्य है कि अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण को सीमित अथवा समाप्त कर अर्थव्यवस्था को खोलना। जैसा कि हमने पीछे भी देखा है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने मुक्त अर्थव्यवस्था की माँग उठाई थी, परंतु विश्व आर्थिक मंदी (1929-30) के पश्चात् केंसियन अर्थशास्त्र ने जिस पूँजीवादी मॉडल की बात की थी, उसके संचालन में सरकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्धारित की गई थी। उदारीकरण की नीति ने उस सरकारी हस्तक्षेप को समाप्त कर अर्थव्यवस्था को खोलने पर बल दिया।

विभिन्न कारकों ने इस नीति को प्रोत्साहन दिया था। ये इस प्रकार हैं- प्रथम, फ्रेडरिक हायेक एवं मिल्टन फ्रीडमैन के विचारों से प्रेरित वॉशिंगटन सहमति की नीति (1989) ने बाज़ार को खोलने की माँग की। दूसरे, समाजवादी आर्थिक मॉडल के विघटन के पश्चात् दो भिन्न आर्थिक मॉडल में विश्व का विभाजन समाप्त हो गया। साथ ही, पूर्व समाजवादी देशों ने भी पूँजीवादी आर्थिक मॉडल को अपना लिया। तीसरे, 1971 के पश्चात् आईएमएफ की मुख्य भूमिका; यथा-डॉलर के साथ विभिन्न मुद्राओं के समायोजन जैसी भूमिका लगभग समाप्त हो गई थी क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी अर्थव्यवस्था पर बढ़ते हुए दबाव को देखते हुए अपने मॉडल को आईएमएफ के नियंत्रण से मुक्त करके स्वतंत्र रूप में एवं बाज़ार दर पर उसके विनिमय की नीति आरंभ कर दी थी। अतः अब आईएमएफ तथा उसके साथ विश्व बैंक को भी एक नई भूमिका दे दी गई। वह यह कि वे तृतीय विश्व के देशों पर यह दबाव डालें कि वे अपनी अर्थव्यवस्था पर से सरकारी नियंत्रण को लगभग समाप्त करते हुए अपने बाज़ार को स्वीकृति दें। सबसे बढ़कर गैट (GATT) नामक संस्था के विस्तार के परिणामस्वरूप एक नवीन संस्था के रूप में विश्व व्यापार संगठन (WTO) का गठन हुआ। अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को खुलवाने में इस संस्था ने अहम भूमिका निभाई।

आर्थिक उदारीकरण की नीति के तहत अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में किस प्रकार का परिवर्तन देखा गया?

आईएमएफ ने संकटग्रस्त देशों को इस शर्त पर ऋण देना आरंभ किया कि वह अपने यहाँ बेहतर गवर्नेंस (Good Governance) की गारंटी दे, तभी वे इस ऋण की रकम वापस करने की स्थिति में होंगे। इस प्रकार से उसने इन देशों पर दबाव डाला कि वे उन नीतियों को लागू करें जिससे अर्थव्यवस्था में सरकार का हस्तक्षेप कम हो तथा उनकी अर्थव्यवस्था बाह्य विश्व के लिये खुल जाए। इस नीति के तहत निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन देने, सरकारी उपक्रम का निजीकरण करने, उद्योग नीति, व्यापार नीति आदि में सुधार करने, श्रमिक कानून में संशोधन लाकर श्रमिकों को अनुशासित करने, लोक स्वास्थ्य शिक्षा आदि कल्याणकारी कार्यों पर सरकारी खर्च को कम करने की माँग की गई।

उधर गैट के आठवें दौर की वार्ता आरंभ हुई और इस वार्ता के परिणामस्वरूप, जिसे 'उरुग्वे राउण्ड की वार्ता' के नाम से जाना जाता है, 1995 में विश्व व्यापार संगठन का निर्माण हुआ। विश्व व्यापार संगठन में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की संरचना में व्यापक फेर-बदल कर दिया गया। पीछे हमने देखा था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अर्थशास्त्री केंस की पहल पर जिस ब्रेटन वुड्स व्यवस्था को स्थापित किया था, उस व्यवस्था का लक्ष्य सीमित भूमंडलीकरण (Limited Globalization) की नीति को लागू करना था। इसके तहत अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन की इस ज़रूरत को राष्ट्र के आर्थिक हित से जोड़ने का प्रयास किया गया था। एक तरफ विभिन्न राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति के कुछ नियमों का अनुपालन करना था, वहीं दूसरी तरफ उन्हें अपनी अर्थव्यवस्था की सुरक्षा के लिये कुछ उचित कदम उठाने का अधिकार था, यथा-खाद्य सुरक्षा करने, लोक कल्याणकारी कार्यों का संचालन करने, मुद्रा का अवमूल्यन करने का अधिकार आदि। अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन के संबंध में केंस की पृथक सोच थी। जे.एम. केंस का मानना था कि अगर संतुलन की नीति नहीं अपनाई जाएगी तो फिर राष्ट्रीय हित अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन में बाधा उत्पन्न कर देगा। (वर्तमान में यह बात सही सिद्ध हो रही है कि उभरते हुए आर्थिक राष्ट्रवाद के कारण विश्व व्यापार संगठन (WTO) लगभग निष्प्रभावी हो गया है।)। केंस ने कृषि क्षेत्र, सेवा क्षेत्र आदि को व्यापार की परिधि से बाहर रखा था, किंतु विश्व व्यापार संगठन ने कृषि क्षेत्र, सेवा क्षेत्र (Service Sector), बौद्धिक संपदा कानून (Intellectual Property Rights) सभी को व्यापार की परिधि में शामिल कर दिया। यह तृतीय विश्व के देशों पर अतिरिक्त दबाव था। कृषि क्षेत्र के व्यापार में शामिल होने से उनकी खाद्य सुरक्षा की नीति भी दुष्प्रभावित होने लगी। फिर बौद्धिक संपदा एवं पेटेंट अधिकार को व्यापार में शामिल किये जाने के कारण तृतीय विश्व के देशों पर अतिरिक्त दबाव पड़ा। ये देश अनुसंधान (Research) के क्षेत्र में पश्चिमी देशों से काफी पिछड़े हुए थे तथा कई बातों में पश्चिमी तकनीकी (Technology) पर निर्भर थे। अब इन अधिकारों के तहत पश्चिमी देश उनसे अधिक कीमत वसूलने लगे थे।

फिर उरुग्वे राउंड की वार्ता में जो निर्णय लिये गए थे, वे पश्चिमी देशों के पक्ष में थे। अतः तृतीय विश्व की माँगों को देखते हुए 2001 में कतर में दोहा राउंड की वार्ता आरंभ हुई थी। इस वार्ता में तृतीय विश्व में पक्ष में कुछ निर्णय लिया जाना था, परंतु तभी 2008-09 में पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्था संकट में फँस गई और फिर ये देश अपने वायदे से पीछे हट गए।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आखिर तृतीय विश्व के देशों ने इन शर्तों को क्यों स्वीकार किया?

वस्तुतः तेल संकट के कारण इन देशों की अर्थव्यवस्था संकटग्रस्त हो गई थी। रही सही कसर प्रथम खाड़ी संकट (1991) ने पूरी कर दी। इस कारण पेट्रोलियम उत्पादन और भी महँगा हो गया था। फिर यह देश आईएमएफ का दरवाजा खटखटाने के लिये विवश हो गए। फिर आईएमएफ एवं विश्व बैंक दोनों ने ऋण देने से पहले यह शर्त रख दी थी कि इन्हें अपनी अर्थव्यवस्था खोलनी होगी। स्वयं भारत भी इस संकट का शिकार हुआ था और वह भी 1991 में इस नीति को अपनाने के लिये विवश हुआ। इस नीति को हम लोकप्रिय रूप में एलपीजी की नीति (Liberalization, Privatization, Globalization) की नीति के रूप में जानते हैं।

क्या उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं?

ऐसा हम नहीं कह सकते। वस्तुतः आर्थिक उदारीकरण कारण है, तो भूमंडलीकरण परिणाम। जब विश्व के विभिन्न देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था खोलनी आरंभ की, तो विश्व के विभिन्न देशों में परस्पर जुड़ाव बढ़ गया। फिर नवीन सूचना प्रौद्योगिकी ने विश्व में विभिन्न क्षेत्रों की दूरी कम कर दी। सामाजिक क्षेत्र में सिटीजन की जगह नेटीजन (नेटवर्क से जुड़े हुए लोग) की परिकल्पना आई। संस्कृति एवं विचारों का भी आदान-प्रदान बढ़ा। परंतु यह भी गौर करने की बात है कि इस तथाकथित भूमंडलीकरण ने अपने को वास्तविक रूप में आर्थिक क्षेत्र में ही व्यक्त किया है। वेस्टफेलिया पद्धति पहले की तरह कायम रही तथा राष्ट्रीय-राज्य बने रहे। वास्तव में भूमंडलीकरण के बावजूद भी किसी विश्व सरकार की परिकल्पना नहीं की गई। राष्ट्रीय-राज्य के आधार पर ही वैश्वीकरण (Globalization) का संचालन होता रहा है।

एक ध्रुवीय विश्व बनाम बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था

शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् दो ध्रुवीय विश्व व्यवस्था का अंत हो गया। सोवियत रूस के विघटन के साथ वार्सा पैक्ट का भी विघटन हो गया। परंतु, संयुक्त राज्य अमेरिका ने तब भी नाटो को विघटित नहीं किया, बल्कि उसका विस्तार करता रहा। नाटो (NATO) के अंतर्गत पूर्व के कुछ समाजवादी देश एवं सोवियत संघ के कुछ पुराने गणतंत्रों के लिये भी जगह बनाई गई। फिर यूएसए वर्चस्व की लड़ाई (War of hegemony) से वैश्विक नेतृत्व की ओर मुड़ गया। इसे एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था का नाम दिया गया, किंतु यह स्थिति अधिक समय तक कायम नहीं रह सकी। संयुक्त राज्य अमेरिका को शीघ्र ही 2001 में आतंकवादी हमले का सामना करना

पड़ा। चूँकि आतंकवाद का ग्लोबल विस्तार हो चुका था, इसीलिये कोई अकेला राष्ट्र उस पर नियंत्रण बनाकर नहीं रख सकता था। उसी प्रकार, व्लादिमीर पुतिन के अधीन सोवियत रूस का उद्‌भव हो गया। साथ ही, शीघ्र चीन एक आर्थिक महाशक्ति के रूप में उदित हुआ। इसीलिये शीघ्र ही एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था ने अपनी अहमियत खो दी तथा जिस नई व्यवस्था का उद्‌भव हुआ, उसे एकध्रुवीय बनाम बहुध्रुवीय (Unipolar versus Multipolar) विश्व व्यवस्था का नाम दिया गया।

नवीन चुनौती के रूप में पर्यावरण संकट एवं आतंकवाद

पर्यावरण से संबंधित सजगता 1960 के दशक से आने लगी थी तथा 1972 में स्टॉकहोम में इस मुद्दे पर एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी आयोजित हो चुका था। यद्यपि यह सम्मेलन शीतयुद्ध की राजनीति का शिकार हो गया।

अब पर्यावरण सुरक्षा संबंधी चुनौती का उभरना तय था। वस्तुतः मुख्य दोष औद्योगिक समाज (पूँजीवादी एवं समाजवादी) के विकास मॉडल में है। मुख्य खलनायक अपने आप में जीडीपी (GDP) की पूरी संकल्पना है। वस्तुतः जीडीपी की संकल्पना उत्पादन गणना पद्धति के रूप में द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य एक आपातकालीन व्यवस्था की तरह विकसित हुई थी। रिचर्ड स्टोन एवं जेम्स मीडे (Richard Stone and James Meade) नामक आर्थिक विशेषज्ञों ने जॉन मेनार्ड केंस की सहायता से युद्ध की स्थिति में उत्पादन के मूल्य निर्धारण करने के क्रम में इसका विकास किया था। परंतु, विशेषज्ञों को भी अपनी पद्धति की कमियों का एहसास था। इसलिये रिचर्ड स्टोन ने 1984 में नोबेल मेमोरियल लेक्चर के मध्य इस बात को स्पष्ट किया था कि किसी भी समुदाय के विकास में उत्पादन मूल्य के साथ-साथ सामाजिक तथा पर्यावरण संबंधी कारकों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये। किंतु अफसोस यह रहा कि जीडीपी की संकल्पना में उत्पादन के केवल बाज़ार मूल्य को ध्यान में रखा गया था। इसमें पर्यावरण एवं सामाजिक विकास संबंधी मुद्दे को शामिल नहीं किया गया। अतः पर्यावरण का क्षतिग्रस्त होना तय था।

1980 के दशक में पर्यावरण के संबंध में थोड़ी और सजगता बढ़ी। फिर संयुक्त राष्ट्र संघ ने धारणीय विकास के मुद्दे को उठाया। फिर 1992 में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में पर्यावरण एवं विकास पर रियो-डी-जेनेरियो नामक स्थान पर एक सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसे `Earth Summit' का नाम दिया गया। इसमें 172 देशों ने हिस्सा लिया। इसी क्रम में UNFCC (United Nations Framework Convention on Climate Change) अस्तित्व में आया। आगे इस दिशा में प्रगति 1997 में क्योटो सम्मेलन (जापान) में हुई। इस सम्मेलन में भारत के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत `Polluters must Pay' के अनुकूल यूरोपीय यूनियन, यूएसए तथा जापान ने कार्बन उत्सर्जन में कटौती करना स्वीकार किया, वहीं चीन एवं भारत को इससे मुक्त रखा गया था। यद्यपि डेमोक्रेटिक पार्टी के अमेरिकी प्रेसिडेंट बिल क्लिंटन ने इसे स्वीकार किया था, परंतु रिपब्लिकन पार्टी के उसके उत्तराधिकारी प्रेसिडेंट जॉर्ज डब्ल्यू बुश ने इसे एक दोषपूर्ण समझौता करार देकर संयुक्त राज्य अमेरिका को इससे बाहर कर दिया। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका की दायित्वहीनता के कारण क्योटो प्रोटोकॉल ध्वस्त हो गया।

आतंकवाद एवं विश्व

शीतयुद्ध की समाप्ति के काल में विश्व में शांति एवं स्थायित्व की उम्मीद जग रही थी, परंतु इसके साथ विश्व के समक्ष एक और बड़ी चुनौती उपस्थित हो गई और वह है आतंकवाद। अगर हम आतंकवाद के स्वरूप पर विचार करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि यह घटना अचानक प्रकट नहीं हुई थी, बल्कि इसके विकास का भी एक लम्बा इतिहास रहा है। वैसे तो शोषण एवं दमन के विरुद्ध अथवा प्रतिरोध की पद्धति के रूप में इसका उपयोग शताब्दी पूर्व से ही होता रहा है। आयरिस विद्रोही, विभिन्न देशों के क्रांतिकारी, रूसी निहिलिस्ट (शून्यवादी), कम्युनिस्ट आदि के द्वारा इस हथकंडे का उपयोग किया गया था, परंतु धार्मिक कट्टर पंथ से संबंधित आतंकवाद की पद्धति का संबंध कहीं न कहीं पश्चिमी साम्राज्यवाद के विस्तार एवं शीतयुद्ध के काल से रहा है।

जैसा कि हमने देखा कि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अरब राष्ट्रवाद के साथ विश्वासघात तथा उसके पश्चात् पश्चिमी शक्तियों के द्वारा यहूदी राष्ट्र को प्रोत्साहन ने अरब क्षेत्र को अशांत बना दिया। फिर पश्चिमी शक्तियों द्वारा प्रेरित पेट्रोलियम साम्राज्यवाद ने अरब देशों के असंतोष को और भी अधिक हवा दी। इसके पश्चात् इसमें और भी कारक जुड़ते गए। पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरोध किए जाने वाले प्रतिरोध के क्रम में इस्लामी जगत अथवा विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले मुस्लिम समुदाय ने आधुनिक विचारधारा के अभाव में धर्म को प्रतिरोध के हथियार के रूप में प्रयुक्त किया था। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय मुस्लिम समुदाय का आरंभिक प्रतिरोध बहावी तथा फराजी आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ था। फिर आगे संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वारा शीतयुद्ध के काल में अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिये तथा साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिये अरब क्षेत्र में रूढ़िवादी तत्त्वों को बढ़ावा दिया गया।

उग्र कट्टरपंथी विचारधारा

वस्तुतः अगर हम इस्लामी रूढ़िवादी विचारों पर दृष्टिपात करते हैं, तो उसकी जड़ दो प्रमुख कट्टरपंथी विचारधाराओं में दिखायी पड़ती है। प्रथम, वहाबी विचारधारा तथा द्वितीय, सलाफी विचारधारा। वहाबी विचाराधारा, सऊदी अरब के कट्टरपंथी धार्मिक स्कूल के द्वारा विकसित की गई थी। यह पैगम्बर के काल को इस्लाम का आदर्श प्रतिरूप मानती है तथा आधुनिकता के सभी तकनीकी पहलुओं को अस्वीकार करती है। दूसरी तरफ, सलाफी विचारधारा भी इस्लाम को शुद्ध रूप में स्थापित करना चाहती है, किंतु वह इस्लाम के साथ आधुनिकता के सभी वैज्ञानिक एवं तकनीकी पहलुओं में सामंजस्य स्थापित कर चलना चाहती है बशर्ते, वे तकनीकी पश्चिमी मूल्यों का नहीं, अपितु इस्लामी मूल्यों का संवर्द्धन कर रहे हों। सलाफी विचारधारा मिस्र में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुई। आरंभ में सऊदी अरब के युवाओं पर वहाबी विचारों का गहरा प्रभाव रहा था। फिर वे सलाफी विचारों के प्रभाव में आने लगे। अर्थात् उन्होंने इस्लामी रूढ़िवाद को आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकी से जोड़ने का प्रयास किया। इस तरह जब सऊदी अरब के इस्लामी संगठन के द्वारा प्रतिपादित विचारधारा आधुनिक तकनीकी के साथ जुड़ गई, तो फिर आक्रामक आतंकी संगठनों का विकास हुआ। उदाहरण के लिये, इजरायल के आक्रामक रूख की प्रतिक्रिया में गाजा पट्टी में 1987 में हमास संगठन का विकास हुआ। इस पर मिस्र के मुस्लिम ब्रदरहुड का प्रभाव था। इससे पूर्व ही 1982 में दक्षिणी लेबनान पर इजरायली आक्रमण के पश्चात् हेजबुल्लाह संगठन का विकास हो चुका था। यह एक शिया आतंकी संगठन है तथा इसे ईरान एवं सीरिया का समर्थन प्राप्त रहा है।

सबसे बढ़कर 1979 में अफगानिस्तान पर सोवियत रूस के आक्रमण के पश्चात् आतंकी संगठनों के विकास के लिये उर्वर भूमि तैयार हो गई। यूएसए, सोवियत रूस के विरुद्ध अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिये जेहादी संगठनों को प्रोत्साहन देने लगा। दूसरी तरफ, विश्व के विभिन्न क्षेत्रों से जेहादी अफगानिस्तान में इकट्ठा होने लगे। खाड़ी देश की सरकारों ने जेहादियों को आर्थिक सहायता दी तथा उन्होंने हजारों की संख्या में सुन्नी जेहादियों को अफगानिस्तान के मोर्चे पर भेजा। वर्तमान में आतंकवाद के विरुद्ध अपने को सबसे बड़ा जेहादी करार देने वाले यूएसए को यह याद दिलाने की ज़रूरत है कि किस प्रकार 1980 के दशक में खैबर दर्रे की एक पहाड़ी पर खड़े होकर अमेरिकी सुरक्षा सलाहकार बर्जेजिंस्की (Brzezinski) ने एक हाथ में बंदूक तथा दूसरे हाथ में कुरान रखकर जेहादियों को सोवियत रूस के विरुद्ध प्रोत्साहित करते हुए यह घोषणा की थी कि "ये (बंदूक और कुरान) आपको आज़ाद कराएंगे।"

ओसामा-बिन लादेन एवं अलकायदा

अफगानिस्तान में लड़ने के लिए आए हुए विभिन्न जेहादियों में एक फिलिस्तीनी जेहादी था अब्दुल्ला आजम (Abdullah Azzam) तथा एक दूसरा जेहादी जो सऊदी अरब से आया था, वह था ओसामा-बिन लादेन। ओसामा ने अब्दुल्ला के सहयोगी के रूप में काम किया था अतः उसके व्यक्तित्व पर अब्दुल्ला के विचारों का गहरा प्रभाव रहा था। जब 1990 तक अफगानिस्तान में सोवियत रूस की पराजय हो गई, तो फिर ओसामा सऊदी अरब वापस आ गया। इस प्रकार यूएसए के विरूद्ध उलटा दांव पड़ चुका था तथा अब जेहादी तत्व यूएसए के विरूद्ध ही मुड़ चुके थे। प्रथम ईराक युद्ध में पश्चिमी शक्तियों के विरूद्ध ओसामा-बिन-लादेन की क्या भूमिका रही थी? यह स्पष्ट नहीं है? किंतु 1991 में इराक की पराजय के पश्चात् वह 1991 में सूडान की ओर पलायन कर गया तथा वहीं से उसने यूएसए के विरूद्ध संघर्ष की घोषणा कर दी। आगे पश्चिमी शक्तियों के दबाव में सूडान की सरकार ने 1994 में उसे सूडान से बाहर कर दिया। तत्पश्चात् ओसामा ने 1996 तक अफगानिस्तान को अपना आधार बनाया तथा मुल्ला उमर के अधीन तालिबानी सरकार ने उसे संरक्षण दिया। अफगानिस्तान को आधार बनाते हुए ही ओसामा ने 9/11 के आतंकी हमले को अंजाम दिया। जैसा कि देखा गया ओसामा के व्यक्तित्व पर फिलिस्तीनी जेहादी अब्दुल्लाह आजम तथा सऊदी विपक्षी संगठनों के विचारों का प्रभाव था। किंतु सऊदी पृष्ठभूमि का होने के बावजूद भी ओसामा सऊदी इस्लामी चिंतकों के साँचे से कहीं आगे निकल गया तथा आजम के विचारों से प्रेरित होकर ग्लोबल जेहाद के संदर्भ में सोचने लगा। अलकायदा इसी ग्लोबल जेहाद का जरिया बना। 9/11 की घटना के पश्चात् यूएसए ने आतंकवाद के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर, उसी शैतान को मारने की, जिसे कभी उसने स्वयं पैदा किया था, शपथ ली। किंतु इसी आतंकवाद के विरूद्ध युद्ध के संदर्भ में उसने कुछ ऐसी भूलें कीं जिनके कारण आतंकवाद का और भी प्रसार होता रहा। भले ही थोड़े काल के लिए अलकायदा का आधार अफगानिस्तान में कमजोर पड़ा किंतु अन्य क्षेत्रों में इसका फैलाव होता रहा। यूएसए ने 9/11 की घटना के पश्चात् 2001 में अफगानिस्तान पर आक्रमण किया, किंतु वहाँ आतंकवाद के विरूद्ध केवल हार्ड पावर तरीके को अपनाया। सॉफ्ट पावर तरीके को अपनाकर आतंकवाद के विरूद्ध, दोनों मोर्चों पर संघर्ष करने का प्रयास नहीं किया। अतः यूएसए, अफगानिस्तान में एक अंतहीन युद्ध में फँस गया। अफगानिस्तान का संघर्ष आज तक यूएसए के द्वारा लड़ा गया सबसे लम्बा संघर्ष था।

फिर, यह भी स्मरण रखने की ज़रूरत है कि शीतयुद्ध के काल में वैश्विक स्तर पर अवैध हथियारों का एक जख़ीरा कायम हो गया तथा हथियारों तक आतंकवादी संगठनों की आसानी से पहुँच हो गई। फिर वैश्विक स्तर पर अनेक आतंकी संगठन बनने लगे; यथा- अलकायदा, आई.एस.आई.एस., लश्कर-ए-तैयबा, बोको हरम, जबात-उल-नुसरा आदि। इस तरह शीतयुद्ध के पश्चात् आतंकवाद एक भयानक चुनौती के रूप में उपस्थित हुआ है। इससे उत्पन्न जो संघर्ष है, वह एक तरफ राज्य तथा दूसरी तरफ गैर-राज्य संगठन (Non-State Actor) के बीच है। अत: यह पूर्व संगठनों से भिन्न है। यह पहले के युद्धों से अधिक भयानक एवं विनाशकारी है। फिर सूचना प्रौद्योगिकी ने इस संघर्ष को और भी बहुआयामिक (Multi-dimensional) बना दिया है। इस युद्ध को अभी तक कोई नाम नहीं दिया गया है। एक अमेरिकी विद्वान सैमुअल पी. हटिंगटन ने इसे 'सभ्यताओं के संघर्ष' (Clash of Civilizations) का नाम दिया है, किंतु यह मत स्वीकृत नहीं है क्योंकि इस संघर्ष का मौलिक कारक सांस्कृतिक नहीं, अपितु आर्थिक एवं राजनीतिक है। इसके लिये बहुत हद तक पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति उत्तरदायी रही है।

पूँजीवादी व्यवस्था का संकट: सब-प्राइम ऋण संकट तथा यूरोजोन संकट

हमने पीछे भी देखा है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एक प्रकार के अंतर्विरोध से ग्रस्त होती है। पूँजीवादी अत्यधिक मुनाफा कमाने के उत्साह में वह अपने बाज़ार को ही तोड़ देता है तथा अपने ग्राहकों से क्रय शक्ति (Purchasing Power) छीन लेता है।

फिर अपने मुनाफे को बनाए रखने के लिये दूसरे के बाज़ार में घुसपैठ करता है। इसके अतिरिक्त वह एक अन्य तरीका भी अपनाता है- वह है बैंकों की सहायता से ग्राहकों में क्रय शक्ति उत्पन्न करना। बैंक जब लोगों को सस्ते ब्याज पर ऋण देते हैं, तो लोग उस ऋण के माध्यम से किसी खास वस्तु की खरीद कर उस वस्तु की माँग तथा मूल्य काफी बढ़ा देते हैं। इसे बुलबुला बनना (Bubble-making) कहते हैं। परंतु जब ऋण चुकाने की बारी आती है तब उपभोक्ता उसकी अदायगी करने में सक्षम नहीं रहते हैं और फिर अपने उत्पाद को बाज़ार में समर्पण (Surrender) कर देते हैं। एक के बाद दूसरे उपभोक्ता के द्वारा ऐसा किये जाने से अचानक उस वस्तु के मूल्य में गिरावट आ जाती है और फिर पूरी अर्थव्यवस्था संकट का शिकार हो जाती है। इसे बुलबुला फूटना (Bubble Brust) कहते हैं।

यही प्रवृत्ति 1929-30 में यूएसए के शेयर बाज़ार में तथा 2008 में अमेरिकी हाउसिंग क्षेत्र में देखी गयी। जहाँ तक यूरोजोन संकट 2009 का सवाल है, तो वह गलत नीति का परिणाम है और वह नीति है-वित्तीय एकीकरण (Fiscal Integration) के बिना मौद्रिक एकीकरण (Monetary Integration) की नीति। (नीचे दो ब्लॉक में अमेरिकी सब-प्राइम संकट तथा यूरोजोन संकट पर प्रकाश डाला गया है।)

सब-प्राईम संकट

बढ़ती हुई महँगाई के युग में हाउसिंग सामान्य लोगों की पहुँच से बाहर होती जा रही थी। अत: बिल क्लिंटन की सरकार ने लोगों को हाउसिंग उपलब्ध कराने के लिये बैंक ऋण को प्रोत्साहन दिया। फेडरल रिजर्व बैंक बाजार में मौद्रिक प्रवाह (Money Supply) लाया। चूँकि आतंकवादी हमले के कारण अर्थव्यवस्था में गिरावट आ रही थी इसलिए फेडरल रिजर्व बैंक के द्वारा किए जाने वाले मौद्रिक प्रवाह का फायदा बाजार को मिला था। बाजार में अतिरिक्त मुद्रा-प्रवाह का एक समान परिणाम होता है माँग का काफी बढ़ जाना। फेडरल रिजर्व बैंक के द्वारा ब्याज में गिरावट का फायदा उठाने के लिए कई प्रकार के निवेशक सामने आ गए। इसी क्रम में एक विशेष प्रकार का बैंक सामने आया। इसे 'इन्वेस्टमेंट बैंक' का नाम दिया गया। चूँकि ऋण सस्ती दर पर उपलब्ध था, इसलिये लोगों ने मकानों की प्रतिभूति (Security) के आधार पर ऋण लेना आरंभ कर दिया। प्रतिभूति से तात्पर्य है खरीदे जाने वाले मकान को ही बंधक रखकर बैंक से ऋण प्राप्त करना। चूँकि मकान की बिक्री में तेजी आ गई, इस कारण मकान के मूल्य में तेजी से वृद्धि हुई। दूसरी तरफ निवेशकों को मुनाफा कमाने का इतना उतावलापन था कि इन्होंने प्राइम देनदार के साथ-साथ सब-प्राइम देनदार को भी ऋण देना आरंभ कर दिया। सब-प्राइम देनदार उसे कहते हैं, जिसके भुगतान (Payment) करने की क्षमता कम होती है। सामान्यत: बैंक ऐसे लोगों को ऋण देने से परहेज करते हैं, परंतु यहाँ बैंकों ने अधिक ब्याज की लालच में उन्हें भी ऋण देना प्रारंभ कर दिया। यह गौरतलब है कि सब-प्राइम देनदार (जिन्हें ऋण चुकाने की क्षमता कम होगी) से ब्याज अधिक प्राप्त होता है। अनुमान किया जाता है कि लगभग 2.2 ट्रिलियन डॉलर सब-प्राइम मार्टगेज के द्वारा उधार लिया गया। आरंभ में प्राइम लोन तथा सब-प्राइम लोन अलग-अलग रखे जाते थे, किंतु अब दोनों मिलाए जा चुके थे। इसलिये इस ऋण की सिक्युरिटी के जो खरीददार थे, उन्हें यह पता नहीं चल पाया कि इस ऋण में खतरनाक ऋण की वास्तविक मात्रा क्या है? फिर जून, 2004 को फेडरल रिजर्व बैंक ने अपनी ब्याज दर में वृद्धि कर दी। अत: ऋण प्राप्तकर्त्ताओं पर देय रकम बढ़ गई। अब ऋण प्राप्तकर्त्ता ऋण चुकाने में असफल होने लगे। अत: वे अपने मकान बैंक के समक्ष समर्पित करने लगे। इसके परिणामस्वरूप मकान बाजार में मकान की कीमत तथा प्रतिभूति (Security) की कीमत में भी गिरावट आने लगी। अत: सब-प्राइम ऋण की देनदार कंपनियाँ दिवालिया होने लगीं। इसने एक आर्थिक संकट का रूप ले लिया।

यूरोजोन संकट

यूरोजोन संकट ने संपूर्ण विश्व को चौंका दिया। वस्तुत: 2009 में यूरोप एक प्रकार के आर्थिक संकट से ग्रस्त हो गया। अगर हम आर्थिक संकट के कारणों की पड़ताल करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि यह संकट यूरोजोन की संरचना में ही निहित था। यूरोजोन के देशों ने एक समान मुद्रा (यूरो) को स्वीकार किया। फिर यूरोपीय संघ के देशों ने चुंगी मुक्त संयुक्त बाजार की स्थापना पहले ही कर ली थी, किंतु यूरोजोन के देश विकास के समान स्तर पर नहीं थे। एक तरफ उत्तर के राज्य अपेक्षाकृत अधिक विकसित थे, विशेषकर जर्मनी का आर्थिक-औद्योगिक बाजार सबसे मजबूत था, वहीं कुछ अन्य राज्य विशेषकर दक्षिणी राज्यों की अर्थव्यवस्था कमजोर थी। इन्हें 'पिग्स' (PIIGS- पुर्तगाल, आयरलैंड, इटली, ग्रीस तथा स्पेन) के नाम से जाना गया। अगर हम इसकी जड़ में जाते हैं तो पाते हैं कि वित्तीय एकीकरण के बिना मौद्रिक एकीकरण का प्रयोग एक असफल प्रयोग सिद्ध हुआ। दूसरे शब्दों में, यूरोजोन के विभिन्न देशों के बीच चुंगी की दीवार समाप्त कर दी गई थी, फिर मौद्रिक एकीकरण के बाद मुद्रा के अवमूल्यन का विकल्प भी समाप्त हो गया। अब अगर कोई अर्थव्यवस्था मजबूत है और दूसरी कमज़ोर, तो फिर कमज़ोर अर्थव्यवस्था के लिये बचाव क्या है? एक उदाहरण के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। जर्मनी की अर्थव्यवस्था एक मजबूत अर्थव्यवस्था थी, जबकि दक्षिणी यूरोप की अर्थव्यवस्था कमजोर। जर्मनी की वित्तीय नीति, बजट नीति तथा इन देशों की नीतियाँ पृथक् थीं। अत: स्वाभाविक रूप में इन देशों के उत्पादों की गुणवत्ता एवं मूल्य में अंतर आ गया। जर्मन उत्पाद अपेक्षाकृत सस्ते एवं बेहतर गुणवत्ता वाले थे, जबकि इन देशों के उत्पाद अपेक्षाकृत महँगे एवं निम्न गुणवत्ता वाले। स्वाभाविक रूप में एकीकृत बाजार होने के कारण पिग्स (PIIGS) देशों के नागरिक भी जर्मन उत्पाद ही खरीदने लगे। इस कारण इन देशों के उद्योग विफल होने लगे। चूँकि ये उद्योग आर्थिक संकट के शिकार हो गए, इसलिये इन्होंने जो बैंक का ऋण ले रखा था, वे ऋण देने से चूक गए। इस कारण बैंक दिवालियेपन की कगार पर आ गए। अब इन देशों की सरकारों ने यू.एस.ए. से सीख ली। उन्होंने सोचा कि एक वर्ष पूर्व अमेरिकी सरकार ने 'लेहमन ब्रदर्स' जैसे बैंक को दिवालिया होने से नहीं बचाया। इसलिये वे बैंक असफल हो गए तथा यू.एस.ए. आर्थिक संकट से ग्रस्त हो गया था। यही सोचकर इन सरकारों ने बैंकों को बचाने के लिये बाहर से ऋण लिया। परिणामस्वरूप ये सरकारें स्वयं कर्जदार बन गईं। इसे 'सॉवरेन ऋण संकट' (Sovereign Debt Crisis) का नाम दिया जाता है।

सामान्यत: कोई संप्रभु शक्ति आर्थिक संकट का शिकार नहीं होती है क्योंकि उसके पास दो हथियार होते हैं। प्रथम, वह अतिरिक्त कर लगाकर धन की उगाही कर सकती है, परंतु एकीकृत अर्थव्यवस्था में ऐसा संभव नहीं होता क्योंकि अतिरिक्त कर लगाने पर स्वयं अपने ही पूँजीपति अपना व्यवसाय किसी दूसरी जगह स्थापित कर लेते हैं। अत: यह विकल्प नहीं था। दूसरा विकल्प यह था कि सेंट्रल बैंक को यह कहा जाए कि वह अतिरिक्त मुद्रा छाप दे तथा उन मुद्राओं से कर्ज अदायगी कर दी जाए। किंतु यूरोजोन की समान मुद्रा (यूरो) केवल जर्मनी के सेंट्रल बैंक द्वारा जारी की जाती थी। अत: अन्य बैंकों के पास यह विकल्प ही नहीं था। इसलिये ये सभी देश कर्जदार बन गए। इस प्रकार यूरोजोन का संकट उत्पन्न हुआ था।

तृतीय विश्व के देशों पर प्रभाव

तृतीय विश्व के देशों पर दोहरा प्रभाव देखा गया। एक तरफ चीन एवं भारत जैसे देश तृतीय औद्योगीकरण की स्थिति से लाभान्वित हुए। आर्थिक उदारीकरण (Economic Liberalisation) एवं तृतीय औद्योगीकरण का एक लाभ तृतीय विश्व के देशों को भी मिला। इसे 'Outsourcing' एवं `Offshoring' के रूप में देखा गया। 'Outsourcing' से तात्पर्य है कि सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से तृतीय विश्व के इंजीनियर, अंग्रेजी ग्रेजुएट आदि की सेवा पश्चिमी देशों को प्राप्त होना। इस प्रकार एक तरफ पश्चिमी देशों को तृतीय विश्व के सस्ते श्रम का लाभ मिला, तो बदले में तृतीय विश्व के तकनीशियन को रोजगार मिला (संबंधित देश के मानक पर वह तनख्वाह अपने देशों में दी जाने वाली तनख्वाह से अधिक होती थी)। इससे संबंधित देश के सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि हुई। दूसरी तरफ 'Offshoring' से तात्पर्य था- पश्चिमी देशों की कंपनियों के द्वारा अपने उत्पादन के खर्च को कम करने के लिये अपने औद्योगिक प्लांट को तृतीय विश्व में खिसकाना, ताकि उन्हें सस्ते श्रमिक, सस्ती बिजली का लाभ मिल सके। इस कारण भी तृतीय विश्व के देशों में रोजगार संवर्द्धन हुआ।

'Outsourcing' का बड़ा लाभ भारत को मिला तो 'Offshoring' का लाभ चीन को। दूसरी तरफ स्वयं पश्चिमी देशों में रोजगार सिकुड़ने लगे। इस कारण पश्चिमी देशों के लोगों में बेचैनी होने लगी। अत: विश्व व्यापार संगठन के मंत्रिमंडल स्तरीय सम्मेलन (1999) में श्रमिकों ने बड़ा विरोध प्रदर्शन किया। यह उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी साम्राज्यवादी काल से विपरीत स्थिति थी। जहाँ 19वीं सदी में उपनिवेशों की संसाधन की लूट से पश्चिमी देशों के श्रमिकों में रोजगार संवर्द्धन हुआ था, वहीं अब तृतीय औद्योगीकरण के काल में पश्चिमी विश्व के रोजगार छीन कर तृतीय विश्व के श्रमिकों को मिलने लगा।

तृतीय विश्व के कुछ देश, जो तृतीय औद्योगीकरण अथवा आर्थिक उदारीकरण से लाभान्वित हुए, अन्य देशों के स्तर से ऊपर उठकर उभरती हुई अर्थव्यवस्था (Emerging Economy) के समूह में शामिल हो गए। 1999 में G-20 समूह का गठन हुआ तथा 2008 से यह संगठन बहुत प्रभावकारी हो गया। इसमें विकसित हुए देशों के साथ-साथ बढ़ती हुई हैसियत के अनुकूल उभरती हुई अर्थव्यवस्था के देशों को भी शामिल किया गया।

दूसरी तरफ अनेक लैटिन अमेरिकी, अफ्रीकी एवं एशियाई देश इतने भाग्यशाली सिद्ध नहीं हुए। इन पर आर्थिक उदारीकरण की नीति का नकारात्मक प्रभाव पड़ा। जबरन विश्व अर्थव्यवस्था से जुड़ जाने के कारण वे अपने देशी उद्योगों को नहीं बचा सके। उनमें से कुछ विदेशी कर्ज के शिकार हो गए। नव-उदारवादी नीति के प्रभाव में अनेक लैटिन अमेरिकी देश कर्जदार बन गए थे। अत: इस नीति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के क्रम में 21वीं सदी के आरंभ में वेनेजुएला, ब्राजील एवं अनेक लैटिन अमेरिकी देशों में समाजवादी सरकारें स्थापित हुईं। इसे गुलाबी क्रांति (Pink Revolution) के नाम से जाना गया था। (समाजवाद अथवा साम्यवाद को 'लाल निशान' अथवा 'लाल क्रांति' के नाम से जाना जाता था। यह क्रांति पुरानी साम्यवादी क्रांति से पृथक थी, इसलिए इसे गुलाबी क्रांति कहा गया।)

2008-09 से वर्तमान काल तक

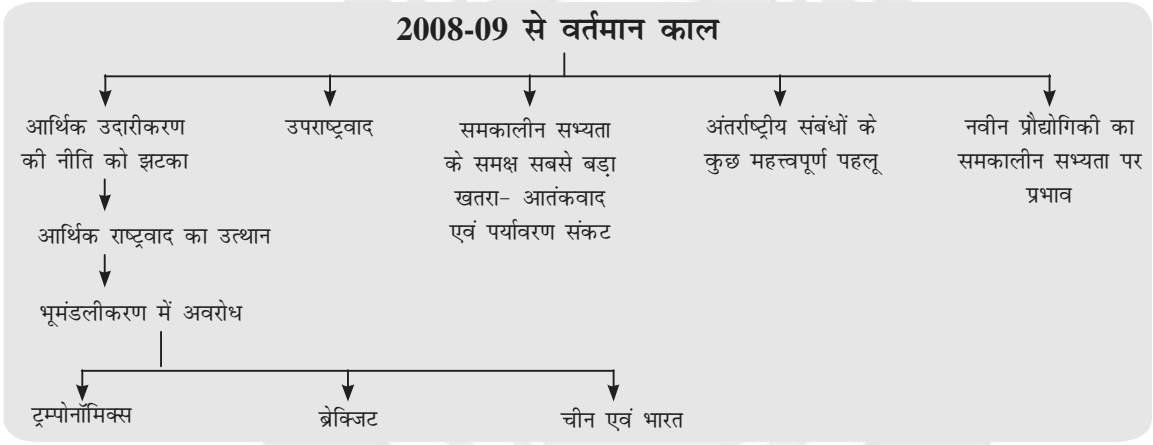

आर्थिक उदारीकरण की नीति को झटका

आर्थिक उदारीकरण की नीति के पतन का क्या कारण था?

वस्तुत: थैचर-रीगन ध्रुव (Thatcher-Regan Axis) द्वारा आर्थिक उदारीकरण की दिशा में पहल की गई थी। इसके पीछे की योजना थी- अंतर्राष्ट्रीय बाजार को पश्चिमी वित्त (Finance) के लिये खोलना। वास्तव में कृषि एवं विनिर्माण क्षेत्र में तृतीय विश्व के देश वैसे भी पश्चिमी देशों से लगभग आगे निकल रहे थे। अत: पश्चिमी देशों ने अपनी श्रेष्ठता वित्तीय क्षेत्र में बनाए रखने का निर्णय लिया। उस समय लंदन एवं न्यूयॉर्क ग्लोबल फाइनेंस (Global Finance) के दो महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में विकसित थे, किंतु सब-प्राइम ऋण संकट (2008) एवं यूरोजोन संकट (2009) की घटना के पश्चात् इन केंद्रों को एक बड़ा धक्का लगा तथा यह एक प्रमुख कारण है कि ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों की रुचि वैश्वीकरण में लगभग समाप्त होने लगी।

इसके परिणामस्वरूप आर्थिक राष्ट्रवाद अपना सिर उठाने लगा। बहुत पहले जे.एम. केन्स ने इस बात की ओर इशारा किया था कि अगर राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता के बीच संतुलन नहीं लाया गया, तो फिर राष्ट्रीय हित अपना सिर उठाएगा और अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में रुकावट आ जाएगी। उसकी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई तथा वर्तमान में विश्व एक बार फिर व्यापार युद्ध एवं मुद्रा युद्ध (Trade War and Currency War) के मुहाने पर खड़ा है। ट्रम्पोनॉमिक्स (Trumponomics) डोनाल्ड ट्रंप ने 'अमेरिका फर्स्ट' के नारे के साथ विश्व राजनीति में अपना कदम रखा। चीनी वस्तुओं पर चुंगी लगाई गई। भारत के मार्ग में भी बाधाएँ उपस्थित की गईं। इस कारण एक नए प्रकार के व्यापारिक संघर्ष का रास्ता तैयार हो गया।

आर्थिक उदारीकरण को लगे झटके के कारण भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में अवरोध पैदा हुआ। इसका एक ज्वलंत उदाहरण है- ब्रेक्जिट (Brexit), यूरोजोन तो पहले से ही संकट की प्रक्रिया से गुजर रहा था। यूरोजोन के कुल 19 सदस्य हैं, ब्रिटेन उसमें नहीं है। (यूरोजोन में वे सदस्य हैं, जिन्होंने एक समान मुद्रा डॉलर को स्वीकार कर लिया है)। फिर यूरोपीय संघ से ब्रिटेन के निकल जाने के बाद यूरोपीय संघ का भविष्य और राजनीतिक एकता टूटती हुई दिखाई पड़ रही है।

ब्रेक्जिट

- यूरोजोन संकट के बाद यूरोपीय संघ के समक्ष 'ब्रेक्जिट' के रूप में दूसरा संकट खड़ा हो गया। वर्ष 2010 में ही ब्रिटेन में अप्रवासन, आर्थिक नीति, राष्ट्रीय संप्रभुता व सुरक्षा को लेकर यूरोपीय संघ से अलग होने की माँग उठ रही थी। इस संदर्भ में वर्ष 2016 में कराये गए जनमत संग्रह में 52% लोगों ने ब्रिटेन के यूरोपीय संघ छोड़ने के पक्ष में मतदान किया था। इसे ही 'ब्रेक्जिट' के नाम से जाना जाता है।
- अगर हम ब्रिटेन तथा यूरोपीय संघ के संबंधों पर प्रकाश डालते हैं, तो पाते हैं कि ब्रिटेन आरंभ से ही संघीय यूरोप के प्रति दुविधाग्रस्त रहा था तथा इसका कारण यूरोप का भूगोल रहा है। 1973 में कुछ हिचकिचाहट के साथ इसने यूरोपीय आर्थिक समुदाय की सदस्यता ग्रहण की थी, किंतु आगे भी यह एकीकरण की दिशा में होने वाले प्रयत्नों का विरोध करता रहा। मैस्ट्रिट सम्मेलन के प्रावधानों के विरुद्ध इसने यूरोपीय यूनियन बनाम निजी देश की संप्रुभता (European Union Versus Pull Sovereignty) का नारा दिया था। उधर ब्रिटेन में, विशेषकर 1991 के पश्चात् पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में उथल-पुथल होने के कारण आव्रजन (Migration) का दबाव बढ़ रहा था। वहीं नौकरियाँ सिमट रही थीं। रोजगार के अवसर सीमित होने का कारण था- 1980 के दशक में कंजर्वेटिव पार्टी की प्रधानमंत्री मार्ग्रेट थैचर की नीति। उसके द्वारा पूँजीवाद समर्थक नव-उदारवादी आर्थिक नीति अपनाने के कारण अनेक छोटी-छोटी फैक्ट्रियाँ बंद हो गईं। इस कारण बेरोजगारी को बल मिला, परंतु बढ़ती हुई बेरोजगारी का मुख्य दोषी बाहर से होने वाले प्रव्रजन को माना गया।
- फिर इसके विरुद्ध संगठित विरोध की नीति सर्वप्रथम यूनाईटेड किंगडम इंडिपेंडेंट पार्टी (UKIP) ने अपनाई। आगे कंजर्वेटिव पार्टी के कुछ सदस्य भी इस प्रक्रिया में शामिल हो गए। इन सभी के विरोध का निशाना यूरोपीय संघ बना। अपने ही दल के सदस्यों के बढ़ते हुए दबाव के कारण कंजर्वेटिव पार्टी के प्रधानमंत्री डेविड कैमरून ने इस विषय पर जनमत संग्रह करवाने का निर्णय लिया। जब कैमरून नाटो (NATO) की एक बैठक से लौट रहा था, तो उसने शिकागो हवाई अड्डे पर एक रेस्तराँ में अपने विदेश सचिव एवं चीफ ऑफ स्टाफ से वार्ता की तथा इसी वार्ता में जनमत संग्रह का निर्णय लिया गया था। वह इस बात के प्रति लगभग विश्वस्त था कि इस जनमत संग्रह में उसकी जीत होगी, जैसा कि दो वर्ष पूर्व स्कॉटलैंड के मुद्दे पर हुई थी। उसने जनमत संग्रह की रणनीति मुख्यत: कंजर्वेटिव पार्टी के बड़बोले सदस्यों का मुँह बंद करने के लिये की थी। यह रणनीति पहली बार नहीं अपनाई गई थी, बल्कि इससे पूर्व हैरोल्ड मैकमिलन 1975 में यूरोपीय समुदाय की सदस्यता के मुद्दे पर जनमत संग्रह की तकनीक अपनाकर अपने विरोधियों का मुँह बंद कर चुका था, परंतु डेविड कैमरून को यह दांव उल्टा पड़ गया तथा वह जनमत संग्रह में हार गया। फिर उसे अपना पद भी गवाना पड़ा। फिर उस आपात स्थिति में उसकी सचिव टेरेजा मे स्थिति को संभालने आई। परंतु चुनावी विफलता के कारण उसकी स्थिति संकटपूर्ण हो गई थी। वर्तमान में जॉनसन को स्पष्ट बहुमत मिला है तथा बोरिस जॉनसन के नेतृत्व में 31 जनवरी, 2020 को यूनाइटेड किंगडम यूरोपीय संघ से अलग हो चुका है।

एक दिलचस्प तथ्य यह है कि चीन एवं भारत, इन देशों ने अनिच्छा से आर्थिक उदारीकरण को अपनाया था, परंतु आज यही देश भूमंडलीकरण की रक्षा के लिये अधिक प्रतिबद्ध दिखते हैं। चीन एवं भारत की सरकार भूमंडलीकृत व्यवस्था के संचालन में विशेष दिलचस्पी ले रही है।

अब इसी के साथ एक सामान्य सा प्रश्न उपस्थित होता है कि भूमंडलीकरण का क्या भविष्य है? यहाँ एक तथ्य स्पष्ट करना उचित है कि विश्व इतिहास में वे दौर आते रहे हैं, जिन्हें प्रसिद्ध अर्थशास्त्री में मेघनाद देसाई 'ग्लोबलाइजेशन बनाम डीग्लोबलाइजेशन' (Globalisation vs De-globalisation) का नाम देते हैं अर्थात् 19वीं सदी में भूमंडलीकरण का दौर आया था, परंतु विश्व आर्थिक मंदी के कारण उसे झटका लगा। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् डिग्लोबलाइज्ड व्यवस्था (जिसमें भूमंडलीकरण पर कुछ सीमाएँ आरोपित की गई थीं) स्थापित की गई थीं। 1990 के दशक में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को बल मिला, परंतु हाल ही में उसे धक्का लगा है।

अब अगर हम इसके भविष्य पर विचार करते हैं तो निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। वर्तमान भूमंडलीकरण पूँजीपतियों एवं निवेशकों के लाभ पर टिका हुआ भूमंडलीकरण है, जिसका टूटना तय है, परंतु इसके साथ जनसामान्य पर आधारित भूमंडलीकरण का भी विकास हुआ है। नवीन सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित 'नेटीजन' (Netizen) का समूह विकसित हुआ है तथा एक सिविल सोसायटी कायम हुई है। इसकी प्रगति को रोकना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त पर्यावरण संकट, आतंकवाद आदि ऐसी चुनौतियाँ हैं, जिन्हें राष्ट्रीय स्तर पर हल नहीं किया जा सकता। इसके लिये ग्लोबल प्रयास की ही ज़रूरत है। इसके अतिरिक्त इबोला,

सार्स, कोविड-19 जैसी पैनडेमिक (Pandemic) का समाधान राष्ट्रीय स्तर पर संभव नहीं है। इसलिये ग्लोबलाइजेशन विभिन्न राष्ट्रों के लिये विकल्प नहीं है, बल्कि उनके समक्ष बाध्यता है।

इसी के साथ एक दूसरा प्रश्न भी उपस्थित होता है कि आर्थिक उदारीकरण की नीति के अवसान के कारण एक प्रकार के दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद (Right wing nationalism) का उद्भव देखने को मिलता है। यहाँ दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद से आशय है ऐसी सरकार, जिसकी सफलता जनता के बीच उग्र राष्ट्रवाद की विचारधारा को फैलाने पर टिकी हो। अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन दोनों के बीच कोई संबंध है?

इन दोनों के बीच अवश्य ही संबंध है। प्राय: आर्थिक उदारीकरण के काल में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। प्रथम, सरकार स्वयं पीछे हट गई थी और लोगों को अंतर्राष्ट्रीय पूँजी की कृपा पर छोड़ दिया गया। अत: लोगों में असुरक्षा की भावना आई। फिर विश्वव्यापीकरण के नाम पर पश्चिमी सांस्कृतिक मानदंड भी लोगों पर थोपने का प्रयास हुआ। अत: लोग फिर अपनी जड़ की ओर लौटने की बात करने लगे। (यहाँ जड़ से आशय है अपनी परंपरा की ओर लौटना जिसका धर्म एक पहलू है)। तीसरे, जनसंख्या आप्रव्रजन (Population migration) भी एक चुनौती बनी रही। इस कारण विभिन्न क्षेत्र के लोगों को रोजगार छिन जाने का खतरा महसूस हुआ। लोगों में बेचैनी काफी बढ़ गई। समाजवादी व्यवस्था के विघटन के पश्चात् समाजवादी विकल्प मौजूद नहीं था। अत: लोग दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद की ओर झुकने लगे। लोकप्रिय नेता तथा राष्ट्रवादी पार्टी ने इस खालीपन को शीघ्रता से भर दिया। उदाहरण के लिये, संयुक्त राज्य अमेरिका में डोनाल्ड ट्रंप, रूसी गणतंत्र में व्लादिमीर पुतिन, तुर्की में एर्दोगन, जापान में शिन्जो ऐबे, ब्राजील में बोलसोनारो, इज़रायल में बेंजामिन नेतन्याहू जैसे दक्षिणपंथी रुझान वाले नेताओं का उद्भव हुआ।

भूमंडलीकरण के युग में उपराष्ट्रवाद का उत्थान

भूमंडलीकरण ने अपने समानांतर एक और प्रक्रिया को जन्म दिया, वह था 'उपराष्ट्रवाद' (Subnationalism) का उत्थान तथा इसके कारण विभिन्न राष्ट्रों के समक्ष विघटन का खतरा। इस उभरते हुए उपराष्ट्रवाद की शक्ति के कारण पहले सोवियत रूस का विघटन हुआ (1991) तथा फिर यूगोस्लाविया एवं चेकोस्लोवाकिया (1993) जैसे राष्ट्रों का। यद्यपि सभ्यताओं के संघर्ष जैसी अवधारणा अपनी समग्रता में मान्य नहीं है, परंतु इसने उभरते हुए उपराष्ट्रवाद की शक्ति की ओर इशारा किया है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपराष्ट्रवाद की शक्ति पहले की तुलना में अधिक मजबूत क्यों हुई? इसके एक से अधिक कारण थे। प्रथम, भूमंडलीकरण के कारण राष्ट्रीय सरकारें विभिन्न क्षेत्रों पर अपने नियंत्रण को थोड़ा ढीला करने के लिये विवश हुईं। इससे क्षेत्रीय आकांक्षाओं को प्रोत्साहन मिला। दूसरे, अंतर्राष्ट्रीय पूँजी एक ही राष्ट्र के किसी खास क्षेत्र को सिंचित करती रही थी, वहीं इसने किसी दूसरे क्षेत्र को वंचित रखा। इस कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच अलगाव बढ़ा। उदाहरण के लिये, जिस क्षेत्र को अंतर्राष्ट्रीय पूँजी का समर्थन प्राप्त था, वह अपनी समृद्धि अपने गरीब पड़ोसी क्षेत्र के साथ बाँटने के लिये तैयार नहीं था। इसलिये कई बार वह पृथक् होने की बात सोचने लगता था। दूसरी तरफ, कई बार पड़ोसी निर्धन क्षेत्र अपनी निर्धनता के लिये समृद्ध क्षेत्र को उत्तरदायी मानते हुए वह पृथकता की बात करने लगते थे। तीसरे, साम्राज्यवादी शक्तियों के द्वारा भी क्षेत्र विशेष को भड़काया गया, ताकि उस क्षेत्र में उनकी पैठ बनी रह सके। इस बीच कई देश अशांति के शिकार हुए। उदाहरण के लिये, अफ्रीका में रवांडा तथा सोमालिया गृहयुद्ध का शिकार हो गये। 1990 के दशक में कोसोवो संकट एक बड़ा मुद्दा बनकर आया। 2011 में एक अफ्रीकी देश सूडान का विभाजन हो गया।

उपराष्ट्रवाद की चुनौती ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में भी एक नया मोड़ ला दिया। उपराष्ट्रवाद ने कई देशों में गृहयुद्ध का रूप ले लिया तथा कुछ क्षेत्रों में तो यह नरसंहार का रूप लेने लगा। अत: अंतर्राष्ट्रीय संबंध में आर. टू पी. (R. To P.) की अवधारणा विकसित हुई। इसका अर्थ था `Responsibility to protect'। R. To P. की अवधारणा विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के वर्चस्व का विस्तार करती रही। यूएसए ने विशेष रूप से यह प्रतिपादित किया कि अगर किसी भी राष्ट्र की जनता अपनी सरकार के दमन का शिकार है, तो उसकी रक्षा करना विश्व समुदाय का दायित्व है। इसी अवधारणा के तहत कुछ देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जाने लगा। अत: इससे एक प्रकार का भय उत्पन्न होने लगा। वस्तुत: यह आशंका व्यक्त की जाने लगी कि इस नीति का सहारा लेकर किसी भी समय संयुक्त राज्य अमेरिका किसी राष्ट्र के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप कर सकता है। फिर इसी आधार पर किसी न किसी रूप में लीबिया तथा फिर वर्तमान में सीरिया में हस्तक्षेप किया गया।

समकालीन सभ्यता के लिये सबसे बड़ा खतरा-पर्यावरण संकट एवं आतंकवाद

विश्व समुदाय ने पर्यावरण के खतरे को 1970 के दशक में ही पहचान लिया था तथा उसके निवारण की दिशा में 1990 के दशक में (पृथ्वी सम्मेलन) गंभीर प्रयास भी आरंभ कर दिया था, परंतु आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया ने एक बार फिर सरकार की प्राथमिकता को बदल दिया। इन सरकारों की प्राथमिकता हो गई

अधिक से अधिक संवृद्धि (Growth rate) को प्राप्त करना तथा इस उद्देश्य को पाने के लिये संसाधनों का अत्यधिक दोहन किया गया। इस कारण पर्यावरण की चुनौती और भी गंभीर हो गई।

फिर इस काल में पर्यावरण संकट के निवारण के लिये किए जाने वाले अंतर्राष्ट्रीय प्रयास में भी परिवर्तन देखे गए। प्रथम, चूँकि सब-प्राइम संकट एवं यूरोजोन संकट के कारण पश्चिमी पूँजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था को धक्का लगा, तो वे अपना दायित्व निभाने से पीछे हटने लगे। दूसरे, उन्होंने भारत के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत 'प्रदूषक देश को ही चुकाना चाहिये' (Polluters must pay) के सिद्धांत को तिलांजलि देते हुए सभी देशों पर कार्बन उत्सर्जन में कटौती करने की अनिवार्य बाध्यता कर दी अर्थात् इन देशों पर यह दबाव डाला गया कि सभी देशों को कार्बन उत्सर्जन में यथासंभव कटौती स्वीकार हो। भारत को पहली बार डरबन सम्मेलन (2011) में अंतर्राष्ट्रीय दबाव को देखते हुए इसे स्वीकार करना पड़ा।

आगे 2015 में पेरिस समिट में इस दिशा में प्रगति करते हुए तथा सभी देशों के ऊपर संरक्षण दायित्व रखते हुए 'National determined contributions' का प्रावधान लाया गया। इसके तहत पृथ्वी के तापमान का पूर्व-औद्योगिक काल की तुलना में 2 प्रतिशत से अधिक बढ़ने की अनुमति न देना शामिल था। उसे और भी कम कर 1.5 प्रतिशत तक लाने की बात की गई। दूसरी तरफ, पश्चिमी देश ग्रीन तकनीकी तथा फंड देने में अपेक्षित दिलचस्पी नहीं दिखा रहे थे। (वस्तुतः उनके लिए आवश्यक था कि वे तृतीय विश्व की अर्थव्यवस्था को ध्यान में रखते हुए इन देशों को हरित तकनीकी (Green Technology) एवं उचित मात्रा में फंड प्रदान करें।) सबसे बढ़कर यूएसए ने बड़ी ही उत्तरदायित्वहीनता का परिचय दिया है। पीछे बराक ओबामा की सरकार ने इसे स्वीकृति दे दी थी, परंतु क्योटो सम्मेलन की ही तरह इस बार भी डोनाल्ड ट्रंप की सरकार ने इससे पाव पीछे खींच लिया है। एक दुखद पहलू यह है कि विश्व समुदाय इस भयानकता को नहीं समझ रहा है कि वर्तमान सभ्यता के लिये पर्यावरण संकट सबसे बड़ा खतरा है।

दूसरा बड़ा खतरा है- आतंकवाद। वर्तमान में आतंकवाद धार्मिक कट्टरता के साथ-साथ भूख एवं गरीबी, जनजातीय पहचान, जनसंख्या प्रव्रजन, बेरोजगारी जैसे मुद्दों के साथ जुड़ गया है। 2014 में इस्लामिक स्टेट के द्वारा इराक एवं सीरिया के क्षेत्र में खिलाफत की घोषणा ने अंतर्राष्ट्रीय चुनौती का रूप ले लिया। वर्तमान में अफगानिस्तान से लेकर अफ्रीका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया तक इसका प्रसार हो चुका है। यह आतंकवाद का ग्लोबल नेटवर्क बन चुका है।

जनसंख्या प्रव्रजन *(Migration of Population)*

पर्यावरण संकट और आतंकवाद की तरह 21वीं सदी की एक और ज्वलंत समस्या है और वह है जनसंख्या प्रव्रजन। गौर से देखने पर यह ज्ञात होता है यह समस्या पर्यावरण संकट और आतंकवाद की समस्या से पृथक और स्वतंत्र नहीं है, बल्कि उनसे अभिन्न रूप में जुड़ी हुई है। पर्यावरण संकट का एक स्वाभाविक परिणाम है जीविकोपार्जन की समस्या। इसके कारण भुखमरी और अकाल की समस्या उपस्थित हुई है। वर्तमान युग में शरणार्थियों के समूह में एक बड़ी संख्या पर्यावरण से जुड़े हुए शरणार्थियों (Environmental Refugee) से जुड़ी हुई है। फिर हम छिनती हुई जीविका और रोज़गार के अवसर के कारण एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जनसंख्या का प्रव्रजन होता देखते हैं और यह एक नए प्रकार के संघर्ष को जन्म देता है। यह संघर्ष कहीं युद्ध का रूप ले लेता है, तो कहीं आतंकवाद की समस्या को बढ़ा देता है। फिर युद्ध के कारण शरणार्थियों की समस्या और भी प्रबल हो जाती है। इस प्रकार ये सभी समस्याएँ एक-दूसरे से जुड़ जाती हैं।

उदाहरण के तौर पर, हम देखते हैं कि उत्तरी अफ्रीका से जनसंख्या का प्रव्रजन दक्षिणी यूरोप की तरफ होने लगा। इसने यूरोप की तथाकथित उदारवादी नीति की परीक्षा कर डाली क्योंकि शरणार्थियों के प्रति कठोर रूख अपनाने के कारण अनेक शरणार्थी भू-मध्यसागर में डूबकर मर गए। पिछले लगभग 4.5 वर्षों से भू-मध्यसागर में 'बोटमैन' (बोटमैन उन लोगों को कहा जाता है जो नावों में बैठकर भूमध्यसागर पार करके दक्षिणी यूरोप में घुसने का प्रयास करते हैं) का मुद्दा को एक ज्वलंत मुद्दा बन गया है। उधर पश्चिम एशिया में सीरिया में होने वाले संघर्ष ने यूरोप की ओर जनसंख्या के प्रव्रजन की समस्या को संकटपूर्ण बना दिया है। शरणार्थियों की चुनौती जर्मनी, ऑस्ट्रिया आदि सभी यूरोपीय देशों में उपस्थित हुई। जर्मनी में शरणार्थियों के प्रति प्रतिक्रिया ने नव-नाजीवाद को प्रोत्साहन दिया है (नव-नाजीवाद से तात्पर्य है उग्र राष्ट्रवाद)। यूरोपीय संघ के पिछड़े हुए क्षेत्रों से जनसंख्या के प्रव्रजन की चुनौती ने ब्रिटेन में ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी जिससे ब्रेक्जिट की समस्या उपस्थित हो गई। उधर अमेरिकी महाद्वीप में मैक्सिको एवं लैटिन अमेरिका से जनसंख्या के प्रव्रजन ने और अमेरिकियों के छिनते हुए रोज़गार के अवसरों ने 'ट्रम्पिज़्म' को जन्म दिया है। जनसंख्या प्रव्रजन की समस्या एक सार्वभौमिक समस्या है। दक्षिण एशिया में रोहिंग्या की समस्या को भी हम इसी संदर्भ में देख सकते हैं।

जनसंख्या प्रव्रजन केवल अंतर्राष्ट्रीय चुनौती ही नहीं, बल्कि एक राष्ट्रीय चुनौती के रूप में भी उपस्थित हुई है। एक राष्ट्र के अंदर भी

अविकसित क्षेत्र से अपेक्षाकृत अधिक विकसित क्षेत्र की ओर जीविका एवं रोज़गार की खोज में जनसंख्या का प्रव्रजन भी एक चुनौती बनकर उभरा है। इसने एक प्रकार के क्षेत्रीय तनाव को जन्म दिया है। उदाहरण के लिये, भारत के अंदर बिहार, उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के कुछ नगरों से मुंबई की ओर जनसंख्या के प्रवासन ने महाराष्ट्र में क्षेत्रीय पार्टियों के उग्र विरोध को प्रोत्साहन दिया है।

वर्तमान में जनसंख्या प्रव्रजन इतने बड़े अंतर्राष्ट्रीय एवं अंतर्क्षेत्रीय तनाव का कारण बना है कि एक आलोचक ने इतना तक कह दिया कि जहाँ पिछली शताब्दी में संघर्ष का मुख्य मुद्दा बुर्जुआ एवं सर्वहारा वर्ग के बीच का संघर्ष रहा था, वहीं वर्तमान में संघर्ष का मुख्य मुद्दा विश्ववाद की अवधारणा (Cosmopolitanism) तथा देशीपन की पहचान (Nativism) के बीच का होगा।

स्ट्रेन्ज रेबेल्स 1979 एंड द बर्थ ऑफ 21st सेंचुरी (Strange Rebels 1979 and the birth of 21th Century)

2013 में क्रिश्चियन सेरिल ने अपनी पुस्तक 'Strange Rebels 1979 and the birth of 21th Century' में उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं को दर्शाने का प्रयास किया है जिन्हें 21वीं सदी के विकास के रूप में देखा जाता है, उसकी नींव तो 1979 के वर्ष में ही पड़ चुकी थी। वस्तुतः इस वर्ष पाँच ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं जिन्होंने विश्व राजनीति एवं अर्थव्यवस्था को एक नई दिशा दे दी तथा उन परिवर्तनों को जन्म दिया जो 21वीं सदी की विश्व व्यवस्था के प्रमुख लक्षण बन गए। ये घटनाएँ इस प्रकार थीं–

1. **1979 की ईरानी क्रांतिः** यह वह घटना थी जिसके परिणामस्वरूप ईरान में शाह की सरकार का पतन हुआ। यह शाह की सरकार भले ही अमेरिकी समर्थन पर टिकी हुई थी, परंतु इसने ईरान में धर्मनिरपेक्षता की नीति को प्रोत्साहन दिया था। परंतु ईरान में इस धर्मनिरपेक्षता की नीति को पश्चिमी साम्राज्यवाद की नीति से जोड़ते हुए अयातुल्लाह खुमैनी नामक एक उलेमा ने इस्लाम के पुनरुत्थान का नारा दिया। फिर अमेरिकी दूतावास पर हमला कर अमेरिकी साम्राज्यवाद को प्रत्यक्ष चुनौती दी गई। यहाँ सेरिल महोदय का मानना है कि ईरानी क्रांति इस रूप में महत्त्वपूर्ण है कि इस कारण धार्मिक उन्माद को बल मिला और इससे प्रेरित होकर वहाबियों के एक समूह ने मक्का की मस्जिद पर कब्जा कर लिया तथा लगभग छह महीने तक उस पर अपना नियंत्रण बनाए रखा। सेरिल महोदय का विचार है कि 21वीं सदी में एक प्रमुख चुनौती बनकर उभर चुकी इस्लामिक कट्टरवाद की नीति की जड़ हमें 1979 में दिखती है।
2. **1979 में सोवियत रूस की सेना का अफगानिस्तान में प्रवेशः** इस घटना के दो परिणाम सामने आए– प्रथम, सोवियत रूस, अफगानिस्तान में एक अंतहीन युद्ध में फँस गया, जिस कारण से उसकी आर्थिक और सामरिक स्थिति कमजोर पड़ गई और फिर 1990 में शीतयुद्ध का अंत हो गया। साथ ही न केवल समाजवादी व्यवस्था का पतन हुआ, बल्कि सोवियत रूस और आगे यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया जैसे राष्ट्रों का विघटन हो गया। इसका स्वाभाविक परिणाम था संयुक्त राष्ट्र अमेरिका एवं पूँजीवाद की प्रगति। इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि इससे इस्लामिक कट्टरवाद को प्रोत्साहन मिला। वस्तुतः सोवियत रूस के विरुद्ध संघर्ष में अनेक जनजाति एवं जिहादी संगठनों ने हिस्सा लिया। स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वारा भी अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिये जिहादी संगठनों को भड़काया गया था। इसमें शामिल होने वाला एक जिहादी नेता, ओसामा–बिन–लादेन भी था जिसने आगे चलकर अल–कायदा नामक आतंकवादी संगठन को स्थापित किया। इसलिये इस घटना को भी 21वीं सदी की प्रवृत्ति से जोड़ा जाता है।
3. **1979 में पोलिस मूल के एक ईसाई संत जॉन पॉल द्वितीय का पोप के रूप में चयनः** वेटिकन में पोप का चयन कार्डिनलस के द्वारा किया जाता है। पिछले लगभग 450 वर्षों में किसी गैर–इटालियन मुल्क के पोप का चयन नहीं किया गया था, परंतु जॉन पॉल द्वितीय पोलैंड से थे और पोलैंड में कम्युनिस्ट सरकार स्थापित थी। जैसा कि हम जानते हैं कि धर्म के मामले में कम्युनिस्ट पार्टी का दृष्टिकोण नास्तिक रहा था और वहाँ धर्म को दबाया गया था, परंतु लोगों के मन की आस्था को समाप्त किया जाना संभव नहीं था। इसलिये पोलिस मूल के किसी संत के चयन का एक उद्देश्य साम्यवादी देशों में लोगों की धार्मिक आस्था को भड़काना भी था। इसलिये जब जॉन पॉल द्वितीय ने आगे पोलैंड की यात्रा की, तो लोगों की धार्मिक आस्था भड़क उठी और फिर पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी सरकारों के पतन का रास्ता और भी साफ हो गया। जैसा कि हम जानते हैं कि समाजवादी मॉडल का खात्मा 21वीं सदी की व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण माना जाता है, इस रूप में भी इस घटना का संबंध 21वीं सदी के विश्व से जुड़ता है।
4. **1979 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के रूप में मार्ग्रेट थैचर का चुनावः** इस चुनाव को विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के विकास में एक महत्त्वपूर्ण चरण के रूप में देखा जाता है। जैसा कि हमने पीछे देखा है केन्सियन अर्थशास्त्र ने आर्थिक मामले में राज्य

को बड़ी भूमिका प्रदान कर दी थी, परंतु तेल संकट ने इस विचार को धक्का पहुँचाया था। अब नई प्रधानमंत्री मार्ग्रेट थैचर ने अर्थशास्त्री फ्रेडरिक हायेक तथा मिल्टन फ्रीडमैन के विचारों से प्रभावित होकर और अमेरिकी राष्ट्रपति रॉनाल्ड रीगन के साथ मिलकर उस नीति की नींव डाली, जिसे 'वॉशिंगटन सहमति' के नाम से जाना गया तथा जिसके आधार पर विश्व अर्थव्यवस्था को खोला गया। इस प्रकार मार्ग्रेट थैचर नव-उदारवादी नीति पर आधारित विश्व व्यवस्था की प्रवर्तक बनी। इसलिये इस घटना को 21वीं सदी की विश्व व्यवस्था से जोड़ा जा सकता है।

5. **1979 में चीन के राष्ट्रपति देंग चिआओ पिंग के द्वारा चीन को आर्थिक उदारीकरण की ओर ले जाना:** वस्तुत: चीनी गणतंत्र का संस्थापक माउत्सेतुंग एक सफल क्रांतिकारी रहा था, परंतु चीन के आर्थिक पुनर्निर्माण कार्यक्रम में उसे विफलता ही मिली थी। उदाहरण के लिये, उसकी 'ग्रेट लीप फॉरवर्ड नीति' (Great Leap Forward Policy) ने चीन में अकाल और भुखमरी की समस्या को जन्म दिया था। फिर उसके द्वारा जो 'सांस्कृतिक क्रांति' चलाई गई थी, वह भी एक उग्र दमन की नीति सिद्ध हुई थी, जबकि आर्थिक मोर्चे पर चीन न केवल जापान, सिंगापुर, फिलिपींस जैसे दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से, बल्कि ताइवान जैसे स्वयं अपने हिस्से से भी बहुत पिछड़ गया था। अत: जब 1978 में माउत्सेतुंग के उत्तराधिकारी के रूप में देंग चिआओ पिंग राष्ट्रपति बना, तो उसने 1979 में आर्थिक उदारीकरण की नीति आरंभ कर दी। इसके परिणामस्वरूप चीन की अर्थव्यवस्था में तेजी से प्रसार हुआ तथा चीन विश्व की दूसरी बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित हो गया। 21वीं सदी में BRI–Belt and Road Initiative के माध्यम से चीन एक वैकल्पिक विश्व व्यवस्था का संस्थापक बन गया है। इस रूप में भी 1979 की इस घटना का विशेष महत्त्व है।

इस प्रकार 'क्रिश्चियन सेरिल' नामक इस विद्वान ने 1979 के वर्ष को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वर्ष घोषित किया है।

अंतर्राष्ट्रीय संबधों के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू

2009-20 के बीच विश्व के कुछ अशांत क्षेत्रों में एक क्षेत्र है पश्चिम एशिया एवं अरब क्षेत्र। 2010 के अंत में अचानक यह क्षेत्र उथल-पुथल का शिकार हो गया तथा यह उथल-पुथल ट्यूनिशिया से शुरू हुई तथा मिस्र एवं लीबिया से होते हुए सीरिया तक पहुँच गई। इसे अरब वसंत (Arab Spring) का नाम दिया गया। अरब वसंत को प्रेरित करने में भी सूचना प्रौद्योगिकी की भी अहम भूमिका रही थी। सूचना प्रौद्योगिकी ने परंपरागत अरब समाज को बाह्य विश्व के लिये खोल दिया था। अरब वसंत से बहुत बड़े बदलाव की अपेक्षा की जा रही थी, परंतु ट्यूनिशिया को छोड़कर कहीं भी महत्त्वपूर्ण बदलाव नहीं देखा गया। मिस्र, सैनिक तानाशाही का शिकार हुआ, लीबिया बाह्य आक्रमण एवं आंतरिक अशांति से ग्रस्त हो गया तथा सीरिया को एक वृहद् क्षेत्रीय संघर्ष का रूप ले लिया एवं यह पिछले 9 वर्षों से महाशक्तियों के उलझाव का अखाड़ा बना रहा है।

इस क्षेत्र में पूर्व काल से चली आ रही समस्या अरब इज़राइल संघर्ष ने नए आयाम ग्रहण किये, जब डोनाल्ड ट्रंप समर्थित इज़राइल ने वेस्ट बैंक एवं जेरूशलम जैसे फिलिस्तीनी क्षेत्र पर अपने नियंत्रण का विस्तार करना आरंभ कर दिया। दूसरी तरफ इस क्षेत्र में ईरान एवं सऊदी अरब के बीच शीतयुद्ध चल रहा है। यमन में ईरान समर्थित 'हाउथी' विद्रोहियों के साथ सऊदी अरब तथा उसके सहयोगी संघर्ष कर रहे हैं। सबसे दिलचस्प तथ्य यह है कि यूएसए के प्रोत्साहन पर सऊदी अरब एवं इज़राइल के बीच ईरान के विरुद्ध एक प्रकार के सहयोग का वातावरण तैयार हो रहा है। फिर अमेरिकी प्रेसिडेंट डोनाल्ड ट्रंप के द्वारा परमाणु हथियार के मुद्दे पर ईरान के साथ वार्ता तोड़ने एवं नए प्रकार के आर्थिक नाकेबंदी किये जाने से तनाव बढ़ गया है।

उधर सोवियत रूस में व्लादिमीर पुतिन ने भी यूएसए एवं सहयोगी देशों के आक्रामक देशों के विरुद्ध एक प्रकार का विरोधी रूख अपना रखा है। आगे व्लादिमीर पुतिन के अधीन रूस का आक्रामक नजरिया 2014 में देखा गया, जब सोवियत रूस ने यूक्रेन से क्रीमिया का भू-भाग छीन लिया। फिर पश्चिमी देश तथा रूस के बीच आरोप-प्रत्यारोप का दौर शुरू हुआ। एक तरफ पश्चिमी देशों का कहना था कि यूक्रेन को पूर्व में सुरक्षा का आश्वासन दिए जाने के बाद भी रूस ने उसके प्रति आक्रामक रूख अपनाया। दूसरी तरफ रूस का कहना था कि पूर्व आश्वासन की अवहेलना करते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने पूर्वी यूरोप में अपना विस्तार किया।

दूसरी तरफ रूसी गणतंत्र का कहना था कि पश्चिमी देशों ने उसके साथ विश्वासघात किया है। पीछे उसे यह आश्वासन दिया गया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका, पूर्व सोवियत रूस के क्षेत्र तथा पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार नहीं करेगा, परंतु संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने पुराने आश्वासन की अवहेलना करते हुए इन राष्ट्रों को यूरोपीय यूनियन ही नहीं, बल्कि नाटो की

सदस्यता भी प्रदान की। अंत में दोनों पक्षों के बीच इतना अधिक तनाव हो गया कि जी-8 का विभाजन हो गया। फिर पश्चिमी देशों के द्वारा रूसी गणतंत्र के विरूद्ध आर्थिक नाकेबंदी भी लगा दी गई। फिर भी बराक ओबामा के काल तक स्थिति अनियंत्रित नहीं हुई, किंतु उसके पश्चात् स्थिति और भी बिगड़ गई। एक तरफ व्लादिमीर पुतिन पर यह अभियोग है कि उसने 2016 में हिलेरी क्लिंटन एवं ट्रंप के बीच चुनाव के काल में चुनावी प्रक्रिया को प्रभावित किया था। इस मुद्दे पर बराक ओबामा ने रूस के विरूद्ध और भी कठोर आर्थिक नाकेबंदी लगा दी। फिर हाल में डोनाल्ड ट्रंप तथा पुतिन के बीच भी नए तनाव के बिंदु उभरकर आए। अमेरिकी सरकार का यह मानना है कि रूस अपने परमाणु हथियारों की संख्या बढ़ा रहा है। पूर्व सोवियत रूस के काल में अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन तथा सोवियत रूस के प्रेसिडेंट मिखाईल गोर्बाचेव के बीच 1987 में हस्ताक्षरित इंटरमीडिएट एवं शॉर्ट रेन्ज के परमाणु प्रक्षेपास्त्रों में कटौती का जो निर्णय लिया गया था, वर्तमान में डोनाल्ड ट्रंप की सरकार ने उस संधि से बाहर आने की घोषणा की है।

फिर विश्व की भावी शांति के लिए भी यह अपशकुन का सूचक है क्योंकि सीरिया, ईरान एवं अफगानिस्तान के मुद्दों पर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस के बीच बेहतर संबंध विश्व राजनीति को एक नई दिशा दे सकता था, परंतु ऐसे आसार नजर नहीं आ रहे।

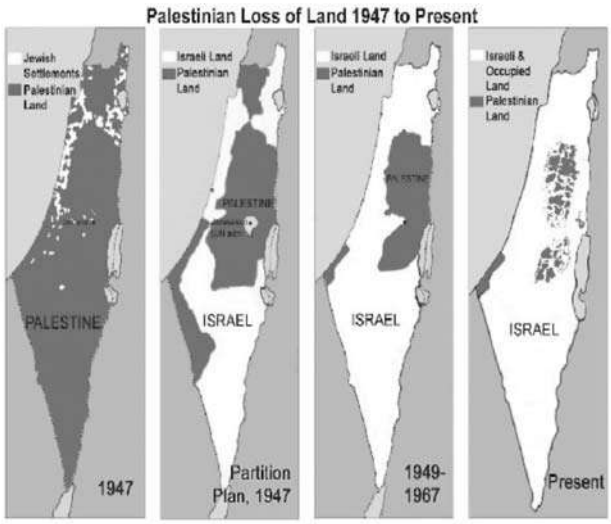

उधर एशिया-प्रशांत क्षेत्र में चीनी ड्रैगन की बढ़ती हुई शक्ति एक प्रकार की आशंका पैदा कर रही है। चीन की एक महान राष्ट्रीय उपलब्धि मानी जाती है- बेल्ट और रोड इनीशिएटिव (BRI)। इसके तहत चीन ने 'सिल्क रोड इकोनॉमिक बेल्ट' एवं 'ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी मैरीटाइम सिल्क रोड' की घोषणा की। इसे सामूहिक रूप से 'वन बेल्ट, वन रोड' (OBOR) नाम दिया गया। इसे परिवर्तित रूप में 'बेल्ट एवं रोड इनिशिएटिव' (BRI) का नाम दिया जाता है। यह आर्थिक विकास की एक बड़ी ही महत्त्वाकांक्षी योजना मानी जाती है। इसकी तुलना प्रायः द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् लाई गई कुछ अन्य महत्त्वाकांक्षी योजनाओं से की जाती है, परंतु व्यवहार में यह मार्शल योजना से कहीं बड़ी योजना है। इसका स्वरूप अंतर्महाद्वीपीय है। यह एशिया, यूरोप एवं अफ्रीका को परस्पर जोड़ती है।

सिल्क रूट अथवा रेशम मार्ग क्या है?

यह मार्ग चीन को पश्चिम में रोमन साम्राज्य से जोड़ता था। यह भूमि मार्ग एवं सामुद्रिक मार्ग दोनों का प्रतिनिधित्व करता था। यह चीन में हान वंश के काल से लगभग 130 ई.पू. से चल रहा था। भूमि मार्ग चीन से मध्य एशिया होते हुए पश्चिम में भू-मध्यसागरीय क्षेत्र तक जाता था। चीन में हान साम्राज्य, भारत के उत्तर में कुषाण साम्राज्य तथा पश्चिम में रोमन साम्राज्य इस मार्ग से होने वाले व्यापार को संरक्षण देते थे। इन मार्गों से मसाले, रेशम और कागज़ आदि सामग्रियाँ पश्चिम की ओर जाती थीं। जल मार्ग हिंद महासागर, अरब सागर, फारस की खाड़ी अथवा लाल सागर से गुजरते हुए पश्चिम की ओर जाता था। सिल्क रूट विश्व अर्थव्यवस्था में उस अवस्था को दर्शाता है, जब वैश्विक अर्थव्यवस्था के केन्द्र में चीन एवं भारत थे।

एक दृष्टिकोण यह भी है कि चीन की 'वन बेल्ट, वन रोड' योजना कहीं-न-कहीं 600 वर्ष पुरानी झेंग-हे (Jheng He) की अधूरी योजना को पूरा करने की दिशा में एक प्रयास है। 2005 में चीन की सरकार ने 'झेंग-हे' की योजना के महत्त्व को उद्घाटित किया था।

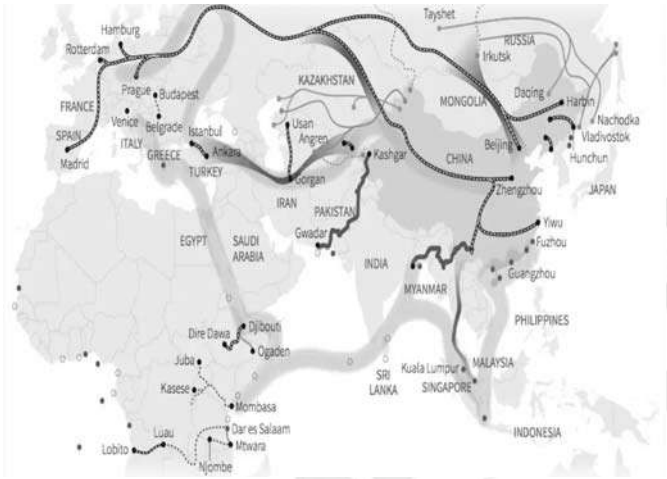

परन्तु वर्तमान विश्व व्यवस्था में इसे महज एक आर्थिक योजना के रूप में नहीं, अपितु चीन की सामरिक महत्वाकांक्षा (Strategic Ambition) से भी जोड़ा जाता है। कुछ विद्वान इसे मोतियों की माला नीति (String of pearl policy) का भी नाम देते हैं।

परंतु यही समय है कि यूएसए, तालिबान के साथ एक समझौता कर अफगानिस्तान से निकल रहा है। यहाँ प्रेसिडेंट डोनाल्ड ट्रंप की वही रणनीति दिख रही है जो वियतनाम के मामले में निक्सन की देखी गई थी। निक्सन, सुरक्षा का दायित्व दक्षिणी वियतनाम की सरकार पर डालकर स्वयं बाहर हो गया था। इसी प्रकार डोनाल्ड ट्रंप भी अफगानिस्तान से पीछे हट रहा है। जाहिर है कि अफगानिस्तान की सरकार अपनी सुरक्षा में अक्षम सिद्ध होगी तथा एक बार फिर अफगानिस्तान पर तालिबानियों का कब्जा हो सकता है। ऐसी स्थिति में न केवल अफगानिस्तान में भारत का निवेश खतरे में पड़ जाएगा, बल्कि अफगानिस्तान में एक पाकिस्तान समर्थक सरकार गठित हो सकती है। ऐसा होने पर मध्य एशिया से लेकर दक्षिण एशिया तक का क्षेत्र अशांति का शिकार बन सकता है। विशेषकर कश्मीर में भारत सरकार को और भी मुश्किलों का सामना करना पड़ सकता है।

जापान, फिलिपींस, वियतनाम एवं सिंगापुर जैसे देश भयभीत हो रहे हैं। दक्षिणी चीन सागर एवं पूर्वी चीन सागर पर चीन के रूख ने एक प्रकार का क्षेत्रीय तनाव पैदा कर रहा है। यूएसए, भारत से भी एक बड़ी भूमिका चाहता है तथा इसे एक्ट ईस्ट पॉलिसी (Act East Policy) पर जोर देने की बात करता है।

कई आलोचक चीन की योजना की तुलना द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य एशियाई देशों की विजय के पश्चात्, जो 'को-प्रॉस्पैरिटी स्फियर' (Co-prosperity sphere) स्थापित किया गया था, उससे करते हैं। अंग्रेज जिओग्राफर जॉन मैकिंडर को उद्धृत करते हुए शशि थरूर ने अपनी पुस्तक (New World Disorder) में स्पष्ट किया है कि जो देश यूरोप, एशिया एवं अफ्रीका को एक वैश्विक द्वीप (World Island) के रूप में संगठित करेगा, वह पूरी दुनिया पर शासन करेगा। फिर चीन, पाकिस्तान के ग्वादर, श्रीलंका के हंबनटोटा एवं जिबूती के बंदरगाह सभी का उपयोग आर्थिक महत्त्व के साथ-साथ सामरिक महत्त्व के लिये भी कर रहा है। इसलिये भारत एवं विश्व के अनेक देश चीन के इस कदम को संदेह की दृष्टि से देख रहे हैं।

तकनीकी परिवर्तन का विश्व व्यवस्था पर प्रभाव

पीछे भी हमने देखा कि नवीन प्रौद्योगिकी, समाज पर आवश्यक प्रभाव छोड़ती है। प्रथम एवं द्वितीय औद्योगिक क्रांति ने यूरोप एवं विश्व में कई प्रकार के परिवर्तन लाए थे। तृतीय औद्योगिक क्रांति (सूचना प्रौद्योगिकी) ने तात्कालिक राजनीतिक एवं सामाजिक संबंधों में बड़ा बदलाव ला दिया। 1990 के दशक में पूर्वी यूरोप में इसने बड़ा राजनीतिक भूचाल लाया। 2010-11 में अरब वसंत के रूप में, इसने तानाशाही सरकारों के गढ़ों को हिलाकर रख दिया। इसने सरकार एवं जनता के संबंधों को भी एक नई दिशा दे दी। पहले जहाँ सूचना मुट्ठीभर लोगों तक सीमित रहती थी, वहीं अब वह जनसामान्य तक पहुँचने लगी। इंटरनेट नेटवर्क पर आधारित एक सिविल सोसाइटी अस्तित्व में आई।

मीडिया के साथ-साथ सोशल मीडिया भी प्रजातंत्र के एक गैर-औपचारिक स्तंभ के रूप में देखा जाने लगा। समाजवादी व्यवस्था के विघटन के साथ बुर्जुआ एवं सर्वहारा के बीच विभाजन का मुद्दा तो समाप्त हो गया, परंतु एक ग्लोबल कॉमन्स (Global Commons) की एक अवधारणा विकसित हुई, जहाँ मार्क्सवाद का परंपरागत नारा रहा था- 'दुनिया के मजदूरों एक हो' (Workers of the World Unite), वहीं एक नया नारा अस्तित्व में आया 'दुनिया के लोगों नेटवर्क से जुड़ो (The people of the World login)। ये वे ग्लोबल कॉमन्स (Global Commons) हैं, जो न्यूयॉर्क एवं लंदन के 'Occupy London Movement' से लेकर भारत के इंडिया गेट के कैंडल मार्च (Candle March) में शामिल दिखते हैं।

फिर हाल में चतुर्थ औद्योगिक क्रांति (Fourth Industrial Revolution) का आरंभ भी माना जाता है। यह कहीं अधिक विकसित प्रौद्योगिकी पर आधारित है; यथा- इंटरनेट आफॅ द थिंग्स

(Internet of the Things), बायोटेक्नोलॉजी (Biotechnology), आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (Artificial Intelligence), थ्री-डी प्रिंटर (3-D Printer)। यह विश्व अर्थव्यवस्था, राजनीति एवं समाज को किस प्रकार की दिशा देगी, यह अभी भविष्य के गर्भ में है, परंतु इस विषय में कई प्रकार की आशंकाएँ व्यक्त की जा रही हैं।

पीछे भी हमने देखा कि विज्ञान एवं तकनीकी ने समकालीन समाज को एक नई दिशा दी थी। अत: अनुमान किया जा सकता है कि चतुर्थ औद्योगिक क्रांति भी समकालीन, अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति को एक नई दिशा देगी।

रोबोटिक्स और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के रोज़गार पर प्रभाव को लेकर प्राय: दो प्रकार के मत देखने को मिलते हैं। प्रथम मत यह है कि यह उत्पादन का केंद्रीयकरण कर श्रम को विस्थापित करेगा, वहीं एक दूसरा मत यह कहता है कि इसकी भूमिका महज अति गुणवत्तापूर्ण कार्यों में होगी, जबकि मध्यवर्ती और निचले स्तर पर श्रम की आवश्यकता बनी रहेगी, इसलिये ये तकनीकी रोज़गार का संवर्द्धन करेंगे, न कि उसे छीनेंगे। जो विशेषज्ञ यह मानकर चलते हैं कि ये उत्पादन का केंद्रीयकरण और श्रम को विस्थापित करेंगे, वे यह मानते हैं कि ये आर्थिक और सामाजिक विभाजन को बढ़ाएंगे क्योंकि एक तरफ पूंजी का संचय बढ़ेगा, वहीं दूसरी तरफ उत्पादन में मजदूरी का अंश कम होगा। अत: निम्न तबके के लोगों के आर्थिक-सामाजिक उत्थान के लिये यूनिवर्सल बेसिक इनकम को लागू करना आवश्यक हो जाएगा।

इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों के भी प्रभावित होने की आशंका व्यक्त की जा रही है। जैसा कि हमने देखा है कि तृतीय औद्योगिक क्रांति के काल में आउटसोर्सिंग और ऑफशोरिंग (Outsourcing and offshoring) के कारण पश्चिमी देशों से रोज़गार छिनकर विकसित हो रही अर्थव्यवस्थाओं तक पहुँचा था। अब चौथी औद्योगिक क्रांति के पश्चात् यह संभावना व्यक्त की जा रही है कि यह रोज़गार दोबारा लौटकर पश्चिमी देशों में चला जाएगा, क्योंकि तकनीकी, जनसंख्या की कमी को पूरा कर देगी।

फिर बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल विचारधारा एवं संस्थाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन आता रहा है। प्रथम, औद्योगिक क्रांति के साथ आधुनिकता एवं प्रजातंत्र आदि का प्रवर्तन (Enforcement) हुआ था, परंतु क्या तृतीय औद्योगिक क्रांति और चतुर्थ औद्योगिक क्रांति के युग में 'प्रजातंत्र' (Democracy), 'सत्य' (Truth) सबका अर्थ एवं परिभाषा बदल जाएगी?

एक आम धारणा है कि हम लोग 'पोस्ट डेमोक्रेसी' युग में पहुँच चुके हैं, जहाँ प्रजातंत्र को मजबूत बनाने वाले उपकरण ही प्रजातंत्र के विनाशक की भूमिका निभाने लगे हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि जनमत प्रजातंत्र की शक्ति रही है, परंतु अत्याधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग कर दक्षिणपंथी विचारों वाली सरकारें जनमत को गुमराह कर प्रजातंत्र का विनाश करने में लगी हुई हैं। उसी तरह एक धारणा यह भी है कि हमारा समाज `Post Truth' युग में पहुँच चुका है। यह वह अवस्था है, जब Truth और Untruth के बीच विभाजन रेखा खींचना मुश्किल हो गया है। सूचना प्रौद्योगिकी और सोशल मीडिया का उपयोग कर Untruth को Truth की तरह लोगों के बीच पहुँचा दिया जाता है और लोग उसे समझ नहीं पाते हैं।

इसलिये हमारे सामने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हो रहे हैं-

- क्या वर्तमान विश्व समुदाय पर्यावरण संकट एवं आतंकवाद जैसे विध्वंसक मुद्दे का समाधान ढूँढ़ सकेगा?
- प्रजातांत्रिक व्यवस्था का भविष्य और दिशा क्या होगी- अधिक प्रजातंत्र की ओर अथवा प्रजातंत्र के विनाश की ओर?
- क्या पूँजीवादी आर्थिक मॉडल धारणीय (Sustainable) हो सकेगा और अगर पूँजीवाद नहीं, तो फिर इसका विकल्प क्या है?

इन तमाम प्रश्नों का उत्तर आगे आने वाला समय प्रस्तुत करेगा, परंतु हम अपनी सोच में आशावादी रहें। इतिहास से हमने सीख लिया है कि पिछले लगभग तीन हजार वर्षों में मानव सभ्यता ने इस तरह की अनेक चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत किया है और आगे भी करती रहेगी।

■■■